तीर्थंकर ऋषभदेव के दश अवतार

मंगलाचरण

त्वमेकं जगतां ज्योतिस्त्वं द्विरुपोपयोगभाक्।
त्वं त्रिरूपैकमुक्त्यंगः स्वोत्थानंतचतुष्टयः।।1।।
त्वं पंचब्रह्मतत्त्वात्मा पंचकल्याणनायकः।
षड्भेदभावतत्त्वज्ञस्त्वं सप्तनयसंग्रहः।।2।।
दिव्याष्टगुणमूर्तिस्त्वं नवकेवललब्धिकः।
दशावतारनिर्धार्यो मां पाहि परमेश्वर![1]।।3।।

हे भगवन्! आप जगत् को प्रकाशित करने वाले जगज्योतिस्वरूप एक हैं ज्ञान तथा दर्शन रूप द्विविध उपयोग के धारक होने से दो रूप हैं सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप त्रिविध मोक्षमार्गमय होने से तीन रूप हैं। अपने आप में उत्पन्न हुए अनन्त चतुष्टयरूप होने से चार रूप हैं। पंच परमेष्ठीरूप होने से अथवा गर्भादि पंचकल्याणकों के नायक होने से पाँच रूप हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों के ज्ञाता होने से छह रूप हैं। नैगम आदि सात नयों के संग्रह स्वरूप होने से सात रूप हैं। सम्यक्त्व आदि आठ

१. आदिपुराण, पर्व २५, श्लोक २२१-२२२-२२३।

अलौकिक गुणरूप होने से आठ रूप हैं। नौ केवललब्धियों से सहित होने से नव रूप हैं और महाबल आदि दश अवतारों से आप का निर्धारण होता है। इसलिए आप दश रूप हैं। इस प्रकार हे परमेश्वर! संसार के दुःखों से आप मेरी रक्षा कीजिए।

इन दश अवतारों का कथन करते हुए श्रीमज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में भगवान् की अग्रलिखित पद्यों से सौधर्मेंद्र के द्वारा स्तुति करायी है।

महाबल! नमस्तुभ्यं ललितांगाय ते नमः।
श्रीमते वज्रजंघाय धर्मतीर्थप्रवर्तिने।।1।।
नमः स्तादार्य ते शुद्धि-श्रिते श्रीधर! ते नमः।
नमः सुविधये तुभ्य-मच्युतेन्द्र! नमोऽस्तु ते।।2।।
वज्रस्तंभस्थिरांगाय नमस्ते वज्रनाभये।
सर्वार्थसिद्धिनाथाय सर्वार्थां सिद्धिमीयुषे।।3।।
दशावतारचरम-परमौदारिकत्विषे ।
सूनवे नाभिराजस्य नमोऽस्तु परमेष्ठिने[1]।।4।।

हे नाथ!आप इस भव से दशवें भव में महाबल नाम के विद्याधर राजा थे। यह आपका 'महाबल' नाम का प्रथम अवतार हुआ क्योंकि उसी भव से आपने उत्थान प्रारंभ किया था अथवा आप महान् बल – अतुल्यबल के धारक हैं इसलिए आपको नमस्कार हो। आप नवमें भव पूर्व 'ललितांग' नाम के देव थे अथवा आप अतिशय सुन्दर – ललित अंग के धारक हैं इसलिए आपको नमस्कार हो। आठवें भव पूर्व आप वज्रजंघ राजा थे अथवा आप वज्र के समान मजबूत जंघाओं को धारण करने वाले एवं अंतरंग-बहिरंग लक्ष्मी से सहित, धर्मतीर्थ के प्रवर्तक हैं, अतः आपको नमस्कार हो।

आप सातवें भव पूर्व भोगभूमिज आर्य थे अथवा आप 'आर्य'-पूज्य हैं इसलिए आपको नमस्कार हो। आप छठे भव पूर्व श्रीधर नाम के देव थे अथवा दिव्य उत्तम शोभा को धारण करने वाले होने से आपका 'श्रीधर' नाम सार्थक हैं, ऐसे आपको नमस्कार हो। आप पाँचवे भव पूर्व 'सुविधि' राजा थे अथवा आप सुविधि – उत्तम भाग्यशाली हैं अतः आपको नमस्कार हो। आप चौथे भव

१. आदिपुराण, पर्व १४, श्लोक ४८ से ५१।

पूर्व अच्युत नाम के सोलहवें स्वर्ग के इंद्र थे अथवा 'अच्युतेन्द्र' अर्थात् अविनाशी स्वामी हैं अतः आपको नमस्कार हो। आप तीसरे भव में वज्रनाभि चक्रवर्ती थे अथवा आप वर्तमान में वज्र के समान मजबूत नाभि को धारण करने वाले हैं अतः आप 'वज्रनाभि' भगवान् को नमस्कार हो। आप इस भव से दूसरे भव पूर्व सर्वार्थसिद्धि नाम के विमान के स्वामी थे अथवा आज आप सम्पूर्ण अर्थ – मनोरथों की या सर्वप्रयोजनों की सिद्धि को प्राप्त हैं इसलिए 'सर्वार्थसिद्धिनाथ' आप को नमस्कार हो। हे नाथ! आप 'दशावतारचरम' हैं अर्थात् आप सांसारिक पर्यायों में अंतिम अथवा ऊपर कहे हुए महाबल आदि दश अवतारों में अंतिम परमौदारिक शरीर को धारण करने वाले महाराजा नाभिराज के पुत्र प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव परमेष्ठी हुए हैं इसलिए आपको नमस्कार हो।

इन दशावतारों में क्रम से-1. महाबल 2. ललितांग देव 3. राजा वज्रजंघ 4. भोगभूमिजआर्य 5. श्रीधरदेव 6. राजा सुविधि 7. अच्युतेन्द्र 8. चक्रवर्ती वज्रनाभि 9. सर्वार्थसिद्धि के अहमिंद्र 10. भगवान ऋषभदेव, इन भवों को समझना चाहिए।

सौधर्मेन्द्र ने भगवान ऋषभदेव का जन्मोत्सव सुमेरु पर्वत पर करने के बाद अयोध्या में आकर जब बालक को माता-पिता को सौंप दिया था उसके बाद वहीं पर 'आनन्द' नाम से बहुत ही सुन्दर नाटक किया उसी के अंतर्गत ताण्डव नृत्य किया था, उसी समय इंद्र ने भगवान के दशावतार सम्बंधी नाटक भी किया था।[1]

इस पुस्तक में क्रम से इन दश भवों का वर्णन किया गया है।

(1) विद्याधर के स्वामी महाबल

इसी जम्बूद्वीप में विदेहक्षेत्र के अंतर्गत 'गंधिला' नाम का देश है। अपने इस भरत क्षेत्र के सदृश वहाँ पर भी मध्य में विजयार्ध पर्वत है, जिसकी दक्षिण-उत्तर दोनों ही श्रेणियों में विद्याधर लोग निवास करते हैं। इस पर्वत की उत्तर श्रेणी में 'अलका' नाम की सुन्दर नगरी है। वहां पर 'महाबल' नाम के राजा धर्मनीतिपूर्वक प्रजा का पालन करते थे। उनके महामति, संभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध ये चार मंत्री थे।

१. तदा प्रयुक्तमन्यच्च रूपकं बहुरूपकं। दशावतार संदर्भमधिकृत्य जिनेशिनः।।१०४।।
(आदिपुराण, पर्व १४।)

विद्याधरों के पास तीन प्रकार की विद्यायें हुआ करती हैं। जातिविद्या, कुल विद्या और साधितविद्या। मातृ पक्ष से प्राप्त विद्या जातिविद्या है। पितृ पक्ष से प्राप्त विद्या कुलविद्या है एवं मंत्रादि से सिद्ध की हुई विद्या साधितविद्या है। इन विद्याओं के बल से वे अनेक प्रकार के रूप, महल, नगर वस्तु आदि बना लेते हैं और भोगोपभोग सामग्री से अधिक सुखी रहते हैं। विद्या के बल से यत्र तत्र मानुषोत्तर पर्वत तक विहार करते रहते हैं। मेरु आदि पर्वतों पर जाकर भक्ति, पूजा, वंदना करके महान् पुण्य बंध किया करते हैं।

किसी दिन राजा महाबल की जन्मगाँठ का उत्सव हो रहा था, विद्याधरों के राजा महाबल सिंहासन पर बैठे हुए थे। उस समय वे चारों तरफ में बैठे हुए मंत्री, सेनापति, पुरोहित सेठ तथा विद्याधर आदि जनों से घिरे हुए, किसी को स्थान, मान, दान देकर, किसी के साथ हँसकर, किसी से संभाषण आदि कर सभी को संतुष्ट कर रहे थे। उस समय राजा को प्रसन्नचित देखकर स्वयंबुद्ध मंत्री ने कहा – हे राजन् ! जो आपको यह विद्याधरों की लक्ष्मी प्राप्त हुई है, उसे केवल पुण्य का ही फल समझिये। ऐसा कहते हुए मंत्री ने अहिंसामयी सच्चे धर्म का विस्तृत विवेचन किया।

यह सुनकर महामति नाम के मिथ्यादृष्टि मंत्री ने कहा कि हे राजन्! इस जगत् में आत्मा, धर्म और परलोक नाम की कोई चीज नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों के मिलने से ही चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। जन्म लेने से पहले और मरने के पश्चात् आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है। इसलिए आत्मा की और परलोक की चिंता करना व्यर्थ है। जो लोग वर्तमान सुख को छोड़कर परलोक संबंधी सुख चाहते हैं, वे दोनों लोकों के सुख से च्युत होकर व्यर्थ ही क्लेश उठाते हैं।

अनंतर संभिन्नमति मंत्री बोलने लगा कि, हे राजन! यह सारा जगत् एक विज्ञान मात्र है क्योंकि यह क्षण भंगुर हैं। जो-जो क्षण भंगुर होते हैं वे सब ज्ञान के ही विकार हैं। ज्ञान से पृथक् चेतन-अचेतन आदि कोई भी पदार्थ नहीं है। यदि पदार्थों का अस्तित्व मानो तो वे नित्य होना चाहिए परन्तु संसार में कोई भी पदार्थ नित्य नहीं दिखते हैं, सब एक-एक क्षण में ही नष्ट हो जाते हैं अतः परलोक में सुख प्राप्ति हेतु धर्मकार्य का अनुष्ठान करना बिल्कुल ही व्यर्थ है।

इसके बाद शतमति मंत्री अपनी प्रशंसा करता हुआ नैरात्म्यवाद को पुष्ट करने लगा।उसने कहा कि यह समस्त जगत् शून्यरूप हैं, इसमें नर, पशु, पक्षी, घट, पट आदि जो भी चेतन-अचेतन पदार्थ दिख रहे हैं वे सर्व मिथ्या हैं। भ्रांति से ही वैसा प्रतिभास होता है जैसे कि इंद्रजाल और स्वप्न में दिखने वाले पदार्थ मिथ्या ही हैं, भ्रांति रूप ही हैं। आत्मा-परमात्मा तथा परलोक की कल्पना भी मिथ्या ही है। अतः जो पुरुष परलोक के लिए तपश्चरण आदि अनुष्ठान करते हैं, वे यथार्थ ज्ञान से रहित हैं।

इन तीनों मंत्रियों के सिद्धान्तों को सुनकर स्वयंबुद्ध मंत्री ने अपने सम्यग्ज्ञान के बल से उनका बलपूर्वक खंडन करके स्याद्वाद सिद्धान्त को सत्य सिद्ध कर दिया तथा राजा महाबल के पूर्वजों का पुण्य चरित्र भी सुनाते हुए धर्म और धर्म के फल का महत्व बतलाया। इस प्रकार स्वयंबुद्ध मंत्री के उदार और गंभीर वचनों से समस्त सभा प्रसन्न हो गई।

किसी समय स्वयंबुद्ध मंत्री सुमेरु पर्वत की वंदना को गया था। वहां वंदना करते हुए सौमनसवन के पूर्व दिशा के चैत्यालय में बैठ गया। अकस्मात् ही पूर्व विदेह से युगमंधर भगवान् के समवसरण रूपी सरोवर के मुख्य हंस स्वरूप आकाश में चलने वाले आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो मुनिराज वहां आ गये। बुद्धिमान् मंत्री ने उनकी पूजा-स्तुति आदि करके उपदेश श्रवण किया।अनंतर प्रश्न किया कि हे भगवन् ! हमारा महाबल स्वामी भव्य है या अभव्य?

आदित्यगति मुनिराज ने कहा – हे मंत्रिन् ! तुम्हारा स्वामी भव्य ही है। वह इससे दशवें भव में भरत क्षेत्र का प्रथम 'तीर्थंकर' होगा। पश्चिम विदेह के गंधिला देश में सिंहपुर नगर है। वहां के राजा श्रीषेण के जयवर्मा और श्रीवर्मा नाम के दो पुत्र थे। उनमें से छोटा श्रीवर्मा माता-पिता और सभी को अतिशय प्रिय था, अतः राजा ने उसे ही राज्य भार सौंप दिया और बड़े पुत्र की उपेक्षा कर दी। इस घटना से जयवर्मा ने पूर्वकृत पापों की निंदा करते हुए विरक्त होकर स्वयंप्रभ गुरु से जिन-दीक्षा ले ली। वह मुनि नव दीक्षित था। एक दिन आकाश मार्ग से जाते हुए महीधर विद्याधर का वैभव देखकर विद्याधर के भोगों का निदान कर लिया अर्थात् 'ये विद्याधर के भोग मुझे अगले भव में प्राप्त हो' ऐसा भाव कर लिया। उसी समय बामी से निकलकर एक भयंकर

सर्प ने उसे डस लिया। वह मुनिराज मरकर के आपके राजा महाबल हुए हैं। पूर्व में भोगों की इच्छा से आज भी उसे भोगों में आसक्ति अधिक है किन्तु अभी आपके वचनों से वह शीघ्र ही विरक्त होगा। आज रात को उसने स्वप्न देखा है कि तीन मंत्रियों ने उसे जबरदस्ती कीचड़ में गिरा दिया और तुमने मंत्रियों की भर्त्सना करके राजा को सिंहासन पर बिठा कर अभिषेक किया है। अनंतर दूसरे स्वप्न में अग्नि की एक ज्वाला को क्षीण होते हुए देखा है। अभी वह तुम्हारी ही प्रतीक्षा में बैठा है, अतः तुम शीघ्र ही जाकर उसके पूछने के पहले ही स्वप्नों को फल सहित बतलाओ।

मंत्री स्वयंबुद्ध ने तत्क्षण ही जाकर राजा को बताया कि प्रथम स्वप्न का फल भविष्य में विभूतिसूचक है एवं द्वितीय स्वप्न का फल यह है कि आपकी आयु एक माह की शेष रह गई है। अब शीघ्र ही धर्म को धारण करो और बहुत कुछ विस्तृतरूप में धर्म का उपदेश दिया। राजा महाबल ने विरक्त चित्त होकर अपने पुत्र अतिबल को राज्य देकर घर के उद्यान के जिन मंदिर में आठ दिन तक आष्टाह्निक महायज्ञ पूजन किया। अनन्तर सिद्धकूट चैत्यालय में जाकर गुरु की साक्षीपूर्वक जीवन-पर्यन्त के लिए चतुराहार का त्याग करके विधिवत् सल्लेखना ग्रहण कर ली। मंत्री को सल्लेखना कराने में निर्यापकाचार्य बनाकर सन्मान किया। शरीर से निर्मम हो बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर वह मुनि के सदृश प्रायोपगमन संन्यास में स्थिर हो गया। इस सन्यास में स्वकृत-परकृत उपकार की अपेक्षा नहीं रहती है। कठिन तपश्चर्या करते हुए महाबल विद्याधर ने शरीर को अतिशय क्षीण करके पंच परमेष्ठियों का स्मरण करते हुए अत्यन्त निर्मल परिणामों को प्राप्त हो गया। मांस, रक्त के सूख जाने पर महाबल ने शरीर को छोड़ कर ऐशान स्वर्ग में श्रीप्रभ विमान में 'ललितांग' नामक उत्तम देव हो गया। इस प्रकार निःस्वार्थ भाव से धर्म की सहायता करने वाले मंत्री ने अन्त तक अपने मंत्रीपने का कार्य किया।

वास्तव में हितैषी बन्धु, मंत्री, पत्नी, पुत्र, मित्र वे ही हैं जो मोक्षमार्ग में लगाते हैं किन्तु आजकल तो ये परिकर लोग धर्म से हटाकर विषयों में फँसाने में ही सच्ची हितैषिता समझते हैं।

पूर्वकाल में भी ऐसे लोग थे जो कि धर्म से छुटाकर पाप मार्ग में या

विषयों में लगाकर अपना प्रेम व्यक्त करते थे किन्तु ऐसे लोग कम थे और आज भी ऐसे लोग हैं जो अपने कुटुम्बियों को हितकर धर्म मार्ग में – त्याग मार्ग में लगाकर प्रसन्न होते हैं परन्तु ऐसे लोग विरले ही हैं।

(2) ललितांग देव

ललितांग देव अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियों का धारक ऐशान स्वर्ग के दिव्य भोगों का अनुभव कर रहा था। उस देव के चार हजार देवियाँ थीं और चार महादेवियाँ थीं। महादेवियों के नाम क्रमशः स्वयंप्रभा, कनकप्रभा, कनकलता और विद्युल्लता थे। देवों की आयु सागर प्रमाण से रहती थी और देवियों की आयु पल्य के प्रमाण से रहती थी। अतः उस देव की अनेकों देवियाँ अपनी-अपनी आयु पूर्ण कर चुकीं और उनके-उनके स्थान पर अन्य-अन्य देवियाँ आती गयीं। जब ललितांग देव की आयु कुछ पल्य प्रमाण ही शेष रही तब स्वयंप्रभा नाम की अतिशय प्यारी महादेवी उत्पन्न हुई।

धातकीखण्ड द्वीप के विदेह क्षेत्र में पलाल पर्वत नाम के ग्राम में देविल नाम के पटेल की पत्नी सुमति के उदर से धनश्री नाम की कन्या हुई। किसी दिन उसने पाठ करते हुए एक समाधिगुप्त नाम के मुनिराज के समीप में एक मरे हुए कुत्ते का दुर्गंधित कलेवर डाल दिया। मुनिराज ने इस घटना से उसे सम्बोधित किया – पुत्री! तूने यह बहुत ही गलत कार्य किया है तुझे इस पाप के निमित्त से बहुत ही कटु फल भोगना पड़ेगा। सुनकर वह बालिका धनश्री घबरा गई एवं गुरु के चरणों में बार-बार नमस्कार कर क्षमा याचना करने लगी। उस क्षमा याचना से उसका पाप हल्का हो गया। अपनी आयु पूर्ण कर वह धातकीखण्ड द्वीप के पश्चिमविदेह में गंधिला देश के पाटली नामक ग्राम में नागदत्त वैश्य की पत्नी सुमति के गर्भ से कन्या हो कर जन्मी। उसका नाम निर्नामा रखा गया। एक दिन उसने अम्बर तिलक पर्वत पर विराजमान अवधिज्ञानी पिहितास्रव महामुनि के दर्शन किये। पुनः प्रश्न किया –

भगवन् ! मैं किस कर्म के उदय से इस दरिद्र कुल में जन्मी हूं? महामुनि ने कहा – पुत्री! तूने पूर्वभव में एक महामुनि के निकट में मृतक कुत्ते को डालकर पाप संचित किया था, यद्यपि तूने मुनि के सम्बोधन से क्षमायाचना

कर बहुत कुछ पाप घटा लिया था फिर भी जो शेष पाप बच गया था उसी के निमित्त से तू मनुष्य योनि में आकर भी दरिद्रावस्था को प्राप्त है।

पुनः पुनः कन्या के द्वारा इस पापक्षय का उपाय पूछने पर गुरुदेव ने बताया कि – बालिके! तू जिनेन्द्रगुणसंपत्ति व्रत एवं श्रुतज्ञानव्रत विधिवत् कर जिससे तेरे समस्त पापों का क्षय होगा।

इसकी विधि इस प्रकार है – तीर्थंकर प्रकृति बंध के लिए कारणभूत सोलहकारण भावनाओं के 16 व्रत, पाँच कल्याणक के 5, आठ प्रातिहार्य के 8, चौंतीस अतिशय के 34 ऐसे 63 व्रत करने होते हैं। यह व्रत जिनेन्द्रगुणसंपत्ति व्रत कहलाता है।

दूसरे श्रुतज्ञानव्रत में मतिज्ञान के 28, ग्यारह अंगों के 11, परिकर्म के 2, सूत्र के 88, अनुयोग का 1, पूर्व के 14, चूलिका के 5, अवधिज्ञान के 6, मनःपर्ययज्ञान के 2 और केवलज्ञान का 1 ऐसे 158 व्रत होते हैं।

इन व्रतों की उत्तम विधि तो उपवास की ही है। मध्यम या जघन्य रूप से अपनी शक्ति एवं गुरु आज्ञा के अनुसार भी आज व्रत किये जाते हैं।

यही निर्नामा कन्या इन व्रतों के प्रभाव से ईशान स्वर्ग में ललितांग देव की स्वयंप्रभा नाम की देवी हुई।

वह देव स्वयंप्रभा देवी के साथ मेरु पर्वत, मानुषोत्तर पर्वत आदि पर सदैव क्रीड़ा किया करता था। किसी समय अकस्मात् ललितांग देव के गले की मंदार की माला मुरझा गई और भी अनेकों चिन्हों से देव ने अपनी आयु छह माह की अवशेष जान ली और शोक से पीड़ित हो गया। इस समाचार को जानकर सामानिक जाति के देवों ने आकर ललितांग देव को समझाना शुरू किया। उन्होंने कहा – हे देव! अधिक कहाँ तक कहा जावे, स्वर्ग से च्युत होने के सम्मुख देव को जो तीव्र दुःख होता है वह नारकी को भी नहीं हो सकता। इस समय आप प्रत्यक्ष उस दुःख का अनुभव कर रहे हैं, किन्तु स्वर्ग से च्युत होना अनिवार्य है। इसलिए हे आर्य! ऐसे धर्म का अवलम्बन करो जो कि जन्म-मरण के चक्कर से छुटाने वाला है। यह धर्म परम शरण है।

इस प्रकार देवों के सम्बोधन से ललितांग देव ने धैर्य को धारण कर धर्म में बुद्धि लगाई और पन्द्रह दिन तक समस्त लोक के जिनचैत्यालयों की पूजा

की। अनन्तर अच्युत स्वर्ग की जिन-प्रतिमाओं की पूजा करता हुआ आयु के अन्त में स्थिर चित्त होकर चैत्य वृक्ष के नीचे बैठ गया तथा वहीं निर्भय हो हाथ जोड़कर उच्च स्वर से नमस्कार मंत्र का उच्चारण करता हुआ अदृश्य हो गया अर्थात् मर गया।

उधर ईशान स्वर्ग में स्वयंप्रभा देवी ललितांग देव के वियोग में बहुत ही संताप को प्राप्त हुई। तब दृढ़धर्म देव ने उसका शोक दूर करके उसे धर्म में स्थिर किया। उस समय वह स्वयंप्रभा छह महीने तक बराबर जिन पूजा करने में उद्यत रही। तदनन्तर सौमनस वन संबंधी पूर्व दिशा के जिन मंदिर में चैत्य वृक्ष के नीचे पंच परमेष्ठी का स्मरण करते हुए समाधि पूर्वक प्राण त्याग कर स्वर्ग से च्युत हुई। पूर्व विदेह के पुण्डरीकिणी नगर के राजा वज्रदन्त की रानी लक्ष्मीमती से 'श्रीमती' नाम की कन्या हो गई। क्रमशः श्रीमती कन्या ने यौवन अवस्था को प्राप्त कर लिया।

(3) राजा वज्रजंघ

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश है, उसमें उत्पल खेट नाम का नगर है। वहां के राजा वज्रबाहु की रानी वसुंधरा ने शुभ दिन पुत्ररत्न को जन्म दिया, जिसका नाम 'वज्रजंघ' रखा गया। वह वज्रजंघ अपनी रूप संपत्ति से मानो ललितांग देव के रूप को भी हँस रहा था।

एक दिन केवली भगवान् के पूजार्थ देवों के आगमन को देखकर श्रीमती को ललितांग देव का स्मरण हो गया। अनन्तर उसने एक चित्रपट पर ललितांग देव संबंधी घटनाएं बनाकर अपनी धाय को दे दिया और वह पंडित धाय महापूत जिनालय में जाकर वह चित्रपट लेकर बैठ गई। अनेकों राजकुमारों के अनंतर कदाचित् वह वज्रजंघ राजकुमार वहाँ दर्शनार्थ आये और चित्रपट को देखते ही उन्हें जातिस्मरण हो गया। कुमार वज्रजंघ ने भी अपना परिचय देकर और अपना चित्रपट देकर उस पंडिता को विदा कर दिया।

चक्रवर्ती वज्रदंत की वसुंधरा बहन थी और वज्रबाहु बहनोई तथा वज्रजंघ भानजा था। बड़े ही आदर से वज्रजंघ के साथ श्रीमती का विवाह सम्पन्न हो गया।

चक्रवर्ती की कन्या को ब्याह कर राजकुमार वज्रजंघ दूसरे दिन सायंकाल में अनेक दीपकों का प्रकाश कर रानी श्रीमती के साथ महापूत जिनालय में दर्शनार्थ आये और स्वर्णमयी जिनप्रतिमा का अभिषेक करके अष्ट द्रव्यों से पूजा की, अनेकों स्तुतियों से जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करके राजमहल में आ गये।

किसी समय अपनी ससुराल जाते हुए राजा वज्रजंघ ने वन में डेरा डाल दिया। वहीं पर आकाश में गमन करने वाले दमधर और सागरसेन मुनिराज आहारार्थ पधारे। उन्होंने वन में ही आहार लेने की प्रतिज्ञा कर रखी थी। राजा वज्रजंघ ने रानी श्रीमती के साथ उनको भक्ति से पड़गाहा और विधिवत् आहारदान दिया, उसी समय देवों ने पंचाश्चर्य वृष्टि कर दी। अनन्तर कंचुकी के कहने से यह मालूम हुआ कि ये तुम्हारे ही अंतिम युगल पुत्र हैं। अर्थात् बाबा वज्रबाहु के साथ वज्रजंघ के अट्ठानवे पुत्रों ने दीक्षा ग्रहण कर ली थी। उनमें से ये अंतिम युगल पुत्र थे। यह जानकर राजा-रानी के हर्ष का पार नहीं रहा।

उनकी भक्तिपूजा करके उनसे धर्म का स्वरूप सुना, पुनः अपने और श्रीमती के तथा औरों के पूर्व भव पूछे। दमधर मुनिराज ने बताया कि हे राजन् ! आप इससे आठवें भव में भरतक्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव होंगे और श्रीमती का जीव राजा श्रेयांस होकर दान तीर्थ का प्रवर्तक होगा। ये मतिवर मंत्री आदि जो बड़े प्रेम से आहारदान देख रहे थे, इनमें से क्रमशः मतिवर मंत्री का जीव भरत चक्रवर्ती होगा। आनन्द पुरोहित का जीव बाहुबलि होगा। अकंपन सेनापति ऋषभसेन पुत्र होगा एवं धनमित्र सेठ अनन्तविजय पुत्र होगा। ये सिंह, सूकर, वानर और नकुल जो बड़े प्रेम से आहारदान देख रहे थे, ये इस दान की अनुमोदना से उन्नति करते हुए आपकी ऋषभदेव की पर्याय में क्रमशः विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नाम के पुत्र होंगे। ये सभी जीव आपके तीर्थ में ही मोक्ष को प्राप्त करेंगे। इन सबका संबंध सुनकर राजा वज्रजंघ आदि सभी को महान हर्ष हुआ।

राजा वज्रजंघ ने एक बार में ही आहारदान देकर इतना महान् पुण्य संचय कर लिया था।

किसी समय वे राजा अपनी रानी श्रीमती के साथ महल में सोये हुए थे। नौकरों ने कमरों को सुगंधित करने के लिए धूप खेई थी। अनन्तर खिड़कियाँ

खोलना भूल गये। बस अंदर में धुएँ के रुक जाने से दोनों के कंठ रुँध गये और वे दीर्घ निद्रा में सो गये अर्थात् मर गये।

अहो! देखो जो भोगापभोग की वस्तुएँ आनन्दमयी होती हैं, वे ही मृत्यु का कारण बन गईं, इसलिए इन भोगों को धिक्कार हो।

इस दान के प्रभाव से वे दोनों मरकर उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमि में दम्पत्ति हो गये और वहाँ पर दस प्रकार के कल्पवृक्षों के भोगों का अनुभव करने लगे।

(4) भोगभूमिज आर्य

किसी समय वज्रजंघ आर्य अपनी स्त्री के साथ कल्पवृक्ष की शोभा देखते हुए बैठे थे कि वहां पर आकाश मार्ग में दो चारण-ऋद्धिधारी मुनि उतरे। वज्रजंघ के जीव आर्य ने शीघ्र ही पत्नी सहित खड़े होकर उनका विनय करके नमस्कार किया। उस समय उन दोनों दम्पत्ति के नेत्रों से हर्षाश्रु निकल रहे थे। दोनों मुनि दम्पत्ति को आशीर्वाद देकर यथायोग्य स्थान पर बैठ गये। उनके नाम प्रीतिंकर और प्रीतिदेव थे। वज्रजंघ ने पूछा – हे भगवन् ! आप कहाँ से आये हैं? आपके प्रति मेरे हृदय में आत्मीयता का भाव उमड़ रहा है।

प्रीतिंकर मुनिराज बोले – हे आर्य! आप इससे पूर्व चतुर्थ भव में विद्याधर के राजा महाबल थे और मैं आपका स्वयंबुद्ध नाम का मंत्री था। उस समय मैंने तुम्हें जैनधर्म ग्रहण कराया था, पुनः मैं जैनेश्वरी दीक्षा लेकर अंत में मरकर स्वर्ग में गया। वहाँ से पूर्व विदेह के राजा प्रियसेन की रानी सुन्दरी देवी के मैं प्रीतिंकर पुत्र हुआ हूँ और यह प्रीतिदेव महातपस्वी मेरा छोटा भाई है। हम दोनों ने स्वयंप्रभ जिनराज के समीप दीक्षा लेकर अवधिज्ञान एवं चारणऋद्धि प्राप्त कर ली है। चूँकि उस भव में आप मेरे परम मित्र थे इसलिए आपको समझाने के लिए हम यहाँ आये हैं।

हे भव्य! निर्मल सम्यक्त्व के बिना केवल पात्र दान के प्रभाव से तू यहाँ उत्पन्न हुआ है, ऐसा समझ। महाबल के भव में तूने हमसे ही तत्वज्ञान प्राप्त कर शरीर छोड़ा था, परन्तु उस समय भी तू सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सका था, अब हम सम्यक्त्वरूपी अमूल्य निधि को तुझे देने के लिए यहाँ आये हैं।

इसलिए हे आर्य! आज सम्यग्दर्शन ग्रहण करें। वीतराग सर्वज्ञ देव, आप्त कथित आगम और जीवादि पदार्थों का बड़ी निष्ठा से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह आठ अंग सहित, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ता रहित होता है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य-ये चार इसके गुण हैं।

इस प्रकार मुनिराज वज्रजंघ आर्य को समझाकर श्रीमती आर्या को समझाने लगे। हे मातः! सम्यग्दर्शन के बिना ही यह स्त्री-पर्याय प्राप्त होती है, सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम नरक के बिना छह नरकों में, स्त्री पर्याय में, एकेन्द्रिय पर्याय, विकलत्रय पर्याय आदि निंद्य योनियों में उत्पन्न नहीं होते हैं। हे मातः! तू भी सम्यग्दर्शन धारण कर और इस स्त्री पर्याय से छूटकर क्रम से सप्तपरम स्थानों को प्राप्त कर।

दोनों दम्पत्ति ने अत्यधिक प्रसन्नचित होकर सम्यक्त्व-रत्न को ग्रहण किया। पहले कहे हुए वज्रजंघ पर्याय में आहारदान के समय जो सिंह, सूकर, वानर और नेवला थे, वे दान की अनुमोदना से वहीं पुरुष पर्याय में जन्मे थे। वे भी इस समय प्रीतिंकर गुरुदेव के मुख से उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन रूपी अमृत को प्राप्त हुए थे। दोनों ही दम्पत्ति को दोनों ही मुनिराज ने बार-बार धर्म-प्रेम से स्पर्श किया और आशीर्वाद देते हुए आकाश मार्ग से विहार कर गये। जब वे मुनिराज चले गये तब आर्य वज्रजंघ ने बहुत देर तक उनके वियोग जन्य दुःख का अनुभव किया। अनन्तर उनके गुणों का चिंतवन करते हुए सोचने लगा कि देखो! महाबल के भव में भी वे स्वयंबुद्ध नामक मेरे गुरु हुए थे और इस भव में सम्यग्दर्शन देकर विशेष गुरु हुए हैं। सचमुच में सिद्धरस ताँबा आदि धातुओं को स्वर्ण बना देता है वैसे ही गुरु संगति भी भव्यजनों को शुद्ध सिद्ध बना देती है। गुरु उपदेश रूपी नौका के बिना यह घोर संसार समुद्र नहीं तिरा जाता है। गुरु ही अकारण बन्धु है। इस प्रकार सम्यक्त्व से विशुद्ध उन भोगभूमिज आर्यों ने कल्पवृक्ष के उत्तम भोगों का अनुभव करते हुए और तत्त्वभावना में मन को लगाते हुए तीन पल्य की आयु को समाप्त कर दिया।

वज्रजंघ का जीव ऐशान स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में श्रीधर नाम का ऋद्धिधारी देव हुआ। श्रीमती आर्या भी सम्यक्त्व के प्रभाव से स्त्री पर्याय से छूटकर उसी स्वर्ग में स्वयंप्रभ नाम का उत्तम देव हुआ। सिंह, सूकर, वानर,

नकुल के जीव भी उसी स्वर्ग में उत्तम ऋद्धि के धारक देव हो गये। ये वज्रजंघ का जीव भरत क्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव होगा और श्रीमती का जीव राजा श्रेयांस होगा।

प्रश्न–मुनियों के उपदेश के सिवाय भोगभूमिज में क्या और भी कोई सम्यक्त्व के कारण हैं?

उत्तर–हाँ, जातिस्मरण हो जाने से, उपदेश श्रवण से, देवर्द्धि आदि देखने से भी सम्यक्त्व प्रगट हो सकता है।

कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव मरकर भोगभूमि में नहीं जा सकता। सम्यग्दृष्टि पात्रदान के प्रभाव से स्वर्ग ही जायेगा। हाँ, यदि किसी ने पहले मनुष्यायु तिर्यंचायु का बंध कर लिया अनन्तर सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है तब वह जीव नियम से कर्मभूमि का मनुष्य या तिर्यंच न होकर भोगभूमि में ही मनुष्य या तिर्यंचयोनि में जन्म लेगा और वहाँ से सौधर्म-ईशान स्वर्ग जन्मेगा।

सचमुच में पूर्व जन्म के स्नेह के संस्कार से ही प्रीतिंकर महामुनिराज ने उन भोगभूमिजों को सम्यक्त्व ग्रहण कराया अन्यथा वहाँ भोगभूमि में वे मुनिराज क्यों जाते?

स्नेह और बैर दोनों के संस्कार जीवों के कई भवों तक चलते रहते हैं। अतः बैर का संस्कार कभी नहीं बनाना चाहिए।

(5) श्रीधरदेव

श्रीप्रभ नामक पर्वत पर ध्यान करते हुए प्रीतिंकर मुनिराज को केवलज्ञान प्रकट हो गया और देवों ने आकर गंधकुटी की रचना करके केवलज्ञान की पूजा की। ईशान स्वर्ग के श्रीधर देव ने भी अवधिज्ञान से जान लिया कि हमारे गुरु प्रीतिंकर मुनिराज को केवलज्ञान प्रकट हो चुका है, वह भी उत्तमोत्तम सामग्री लेकर पूजा के लिए वहाँ आया। पूजन आदि करके धर्म का स्वरूप सुना, अनंतर प्रश्न किया।

हे भगवन् ! महाबल की पर्याय में जो मेरे तीन मंत्री मिथ्यादृष्टी थे, वे इस समय किस गति में हैं? उस समय सर्वज्ञदेव ने कहा, कि हे भव्य! उन तीनों में से महामति और संभिन्नमति ये दो मंत्री तो निगोद पर्याय को प्राप्त हो

चुके हैं जहाँ मात्र सघन अज्ञानांधकार ही व्याप्त है। वहाँ अत्यन्त तृप्त खौलते हुए जल में होने वाला खलबलाहट के समान अनेकों बार जन्म-मरण धारण करने पड़ते हैं। वहाँ निगोद पर्याय में यह जीव एक श्वास के काल में अठारह बार जन्म-मरण कर लेता है। निगोद से निकलकर पुनः त्रस पर्याय पाना बहुत ही कठिन है। जैसे कि कोई मनुष्य समुद्र में एक राई का दाना डाल दे और हजार वर्ष के बाद उसको ढूंढ़े तो मिलना कठिन है, वैसे ही निगोद पर्याय से निकलना अत्यन्त कठिन है तथा शतमति मंत्री मिथ्यात्व के कारण द्वितीय नरक में चला गया है।

उस समय प्रीतिकर गुरुदेव के वचनों से अत्यन्त तृप्त हुआ। वह श्रीधर देव सोचने लगा–अहो! निगोद पर्याय में जाकर संबोधा भी नहीं जा सकता है। देखो, पाँचो इन्द्रियों की प्राप्ति होना कितना कठिन है और ये जीव क्षणिक स्वार्थ में पड़कर मिथ्यात्व से मोहित होकर ऐसी दुर्गति को प्राप्त कर लेते हैं। उस समय उसने द्वितीय नरक में जाकर शतमति मंत्री के जीव को समझाने का प्रयन्त किया।

देव ने कहा–अरे मूढ़ शतमति! देख, क्या तू मुझ महाबल को जानता है? उस भव में तूने मुझे भी मिथ्यात्व का उपदेश दिया था और उसके फलस्वरूप प्रत्यक्ष में तू इस नरक वेदना को भोग रहा है। अब तू शीघ्र ही सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को ग्रहण कर। इस प्रकार देव के बहुत कुछ उपदेश से उस नारकी ने मिथ्यात्व का वमन करके सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर लिया। आयु के अंत में भयंकर नरक से निकलकर पुष्करद्वीप के पूर्व विदेह में महीधर चक्रवर्ती का पुत्र जयसेन हुआ। यौवन अवस्था में उसका विवाह हो रहा था, उस समय पुनः श्रीधर देव ने स्वर्ग से आकर उसे समझाया और नरकों के भयंकर दुःख की याद दिलाई जिससे वह जयसेन तत्क्षण ही विषयों से विरक्त हो गया और यमधर मुनिराज के समीप जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। तपश्चरण करते हुए अंत में समाधि पूर्वक प्राण छोड़ कर ब्रह्म स्वर्ग में इंद्र पद को प्राप्त कर लिया। देखो, कहाँ तो नारकी होना, कहाँ इंद्र पद की प्राप्ति होना? मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का यह प्रत्यक्ष फल देख कर हे भव्य जीवों! धर्म में ही अपनी बुद्धि को स्थिर करो। अनंतर अवधि ज्ञानी इस ब्रह्मेन्द्र ने

अपने पूर्वभवों के वृत्तांत को याद कर ब्रह्म स्वर्ग से ईशान स्वर्ग में आकर श्रीधर देव की विशेष रूप से पूजा की क्योंकि उपकारी के उपकार को न भूलना उनकी पूजा, भक्ति करना ही विनीत सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है।

(6) राजा सुविधिकुमार

श्रीधर देव का जीव ईशान स्वर्ग से च्युत होकर जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में महावत्सा देश की सुसीमा नगरी के राजा सुदृष्टि की रानी सुंदरनंदा के गर्भ में आ गया। नव माह बाद सुंदरनंदा ने पुत्र रत्न को जन्म दिया। उसके अनेक उत्तम-उत्तम लक्षणों को देखकर परिवार के जनों ने उसका सुविधि यह नाम रखा। यह बालक माता-पिता एवं प्रजाजनों के हर्ष को बढ़ाते हुए धीरे-धीरे तरुण अवस्था को प्राप्त हो गया। वहीं विदेह क्षेत्र में अभयघोष नाम के चक्रवर्ती थे, उनकी एक पुत्री का नाम मनोरमा था। चक्रवर्ती ने अपनी पुत्री मनोरमा का विवाह राजकुमार सुविधि के साथ कर दिया।

इधर राजा सुदृष्टि ने भी सुविधि को सर्वगुणों से युक्त देखकर उसे अपना राज्य सौंप दिया। राजा सुविधि अपनी रानी मनोरमा के साथ धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन कर रहे थे। इसी मध्य ईशान स्वर्ग के श्रीप्रभ देव का जीव रानी के गर्भ में आ गया, नव माह बाद पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'केशव' रखा। राजा वज्रजंघ की पर्याय में जो रानी श्रीमती का जीव था और जिसने भोगभूमि में 'आर्या' की पर्याय में श्रीगुरु से सम्यग्दर्शन धारण किया था। अतएव सम्यक्त्व के माहात्म्य से जिसने स्त्रीपर्याय से छूटकर ईशानस्वर्ग में श्रीप्रभ देव के वैभव को प्राप्त किया था वहीं श्रीमती पत्नी का जीव इस भव में राजा का पुत्र हो गया है। वास्तव में पुत्र ही पिता के लिए अतीव स्नेह बन्धन का कारण होता है पुनः वह यदि पूर्वभवों में प्रिय पत्नी के रूप में रहा हो तो भला उसके प्रति प्रेम का क्या कहना? यही कारण था कि राजा सुविधि का अपने पुत्र केशव के प्रति अप्रतिम स्नेह था।

इधर वज्रजंघ राजा के द्वारा वन में आहारदान के समय जो सिंह, नकुल, वानर और सूकर पशुओं ने दान की अनुमोदना से पुण्यसंचित कर भोग भूमि के सौख्य को पाया था पुनः वे चारों ही द्वितीय स्वर्ग में देव हुए थे।

वे चारों ही देव अपनी-अपनी आयु पूर्ण कर स्वर्ग से च्युत होकर उसी विदेह क्षेत्र में क्रम से वरदत्त, वरसेन, चित्रांगद और प्रशान्तमदन नाम के राजपुत्र हो गये। ये सभी समान आकार समान रूप और समान वैभव को धारण करने वाले अपने-अपने योग्य राज्यलक्ष्मी को पाकर सुख का अनुभव करते थे।

एक समय भगवान् विमलवाहन का समवसरण वहाँ आया हुआ था। अभयघोष चक्रवर्ती और वे वरदत्त आदि चारों राजा अपने अनेक परिकर को लेकर भगवान् की वंदना करने के लिए गये। भगवान् की वंदना, भक्ति करके प्रभु का दिव्य उपदेश सुना। साथ में हजारों-हजारों राजा थे। चक्रवर्ती को प्रवचन सुनने के बाद वैराग्य हो गया। संसार की क्षणभंगुरता को जानकर सम्राट् चक्रवर्ती ने चारों राजा समेत अठारह हजार राजाओं के साथ एवं अपने पाँच हजार राजपुत्रों के साथ वहीं समवसरण में दैगंबरी दीक्षा ले ली और महामुनि बन गये

राजा सुविधि को जब यह समाचार विदित हुआ तब उसे धर्मप्रेम के साथ आश्चर्य भी हुआ तथा रानी मनोरमा को पिता व पाँच हजार भ्राताओं की एक साथ मुनिदीक्षा सुनकर बहुत ही शोक हुआ, वह मोह के वशीभूत हो विलाप करने लगी।

हे पिताजी! आपने सम्पूर्ण राज्य को, सम्पूर्ण अन्तःपुर को एवं सम्पूर्ण प्रजा को कैसे अनाथ कर दिया? अब यह चक्ररत्न किसकी आज्ञा में रहेगा?

रानी के शोक को दूर करने के लिए राजा सुविधि ने उन सभी मुनियों की वंदना के लिए प्रस्थान किया। वहाँ समवसरण में पहुँचकर भगवान् विमलवाहन की वंदना की स्तुति की पुनः पूजा करने के बाद चक्रवर्ती महामुनि के चरणों में नमस्कार किया। मनोरमा ने अपने पूज्य पिता के चरणों की वंदना करके शोक और मोह को छोड़कर हर्षितमना हो हाथ जोड़कर स्तुति करना प्रारंभ किया।

हे भगवन् ! आप धन्य हैं, आपने छह खण्ड के वैभव को, चक्ररत्न को एवं सर्व आरंभ-परिग्रह को छोड़कर अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए यह अर्हंत मुद्रा धारण की है। आपकी भक्ति करके मैं भी अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने के पुरुषार्थ में लगा सकूँ ऐसी मुझे शक्ति प्राप्त हो, मैं यही याचना करती हूँ।

अनन्तर क्रम-क्रम से सभी भाइयों के चरणों में नमोऽस्तु करते हुए और आनंदाश्रु से उनके चरणों का प्रक्षालन करते हुए सभी के गुणों की स्तुति करके

अपने कोठे में आकर बैठ गई।

राजा सुविधि मनोरमा के साथ प्रभु का दिव्य उपदेश सुनकर अपने राज्य में वापस आ गये।

एक दिन राजा सुविधि चिन्तन करते हैं–

अहो! मेरे श्वसुर ने और मेरे चारों साथी राजाओं ने तथा पाँच हजार मेरी पत्नी के भाइयों ने, मेरे सालों ने मुनि दीक्षा ले ली, उन्होंने एक क्षण में इतने विशाल चक्रवर्ती साम्राज्य को छोड़ दिया। मेरा राज्य तो उसके आगे बहुत ही अल्प है फिर भी मैं नहीं छोड़ पा रहा हूँ। वास्तव में राज्य को, रानी को एवं सब कुछ परिग्रह को छोड़ना सरल है, मुझे कुछ भी कठिन नहीं लगता किन्तु मैं भला इस 'केशव' पुत्र को कैसे छोड़ूँ? इसके स्नेह बंधन को छोड़ना ही आज मेरे लिए दुष्कर हो रहा है।

इत्यादि प्रकार से चिन्तन कर राजा ने क्रम-क्रम से ग्यारह प्रतिमा के स्थान को प्राप्त कर क्षुल्लक दीक्षा धारण कर ली।[1]

1. दर्शन प्रतिमा 2. व्रत प्रतिमा 3. सामायिक प्रतिमा 4. प्रोषधप्रतिमा 5. सचित्तत्याग प्रतिमा 6. दिवामैथुनत्याग प्रतिमा अथवा रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा 7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा 8. आरम्भत्याग प्रतिमा 9. परिग्रहत्याग प्रतिमा 10. अनुमतित्याग प्रतिमा 11. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा। इन ग्यारह प्रतिमाओं के धारी क्षुल्लक उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन से पवित्र व्रतों की शुद्धता को प्राप्त हुए राजर्षि सुविधि ने बहुत काल तक मोक्ष मार्ग की उपासना की थी।

अनन्तर जीवन के अन्त में सर्व परिग्रह का त्याग कर दैगंबरी दीक्षा ग्रहण कर ली और समाधिपूर्वक शरीर का त्याग कर अच्युत स्वर्ग में इंद्र पद प्राप्त कर लिया। पुत्र केशव ने भी निर्ग्रंथ दीक्षा ग्रहण कर आयु के अंत में शरीर को छोड़ कर सभी सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र पद प्राप्त कर लिया। वरदत्त आदि चारों राजाओं ने जो दीक्षा ली थी वे भी वहीं यथायोग्य सामानिक जाति के देव हो गये।

---

१. स्थानानि गृहिणां प्राहुरेकादश गणाधिपाः। सा तेषु पश्चिमस्थानमाससाद क्रमान्नृपः।।१६१।। (आदि पुराण, पर्व १०)

(7) अच्युतेन्द्र

सोलहवें स्वर्ग में इन्द्र की उपपाद शय्या से सुविधि महामुनि का जीव नवयौवन के रूप में ऐसे उठ कर बैठ गया कि मानों जैसे सोकर ही उठ कर बैठा हो। इंद्र के जन्म लेते ही अन्य देवगण 'जय-जय' शब्दों का उच्चारण करते हैं, आनन्दरूप बाजे बजने लगते हैं। तब इंद्र अपने अवधिज्ञान से अपनी उत्पत्ति को जानकर सामने खड़े हुए देव परिवार को देख कर धर्म की प्रशंसा करते हैं।

अहो! धर्म की महिमा अपरम्पार है कि जहाँ मनुष्यलोक से प्राणी इस स्वर्गलोक में आ जाता है।

पुनः सर्वप्रथम इंद्र ने सरोवर में स्नान कर वस्त्रालंकारों को धारण कर अपने विमान के जिनमंदिर में प्रवेश किया। भक्तिभाव से जिनप्रतिमाओं की वंदना की। भक्तिपूर्वक स्तोत्र पाठ किया। अनन्तर जिनबिंबों का अभिषेक पूजन किया।

इन्हें अणिमा, महिमा आदि आठ ऋद्धियाँ प्राप्त थीं। बाईस सागर प्रमाण यहाँ की आयु थी। इनके अधिकार में एक इंद्रक विमान, पैंतीस बड़े-बड़े श्रेणीबद्ध विमान और एक सौ तेईस प्रकीर्णक विमान–ऐसे एक सौ उनसठ विमान थे। तेंतीस त्रायस्त्रिंश देव, पुत्र के समान थे। दश हजार सामानिक देव और चालीस हजार आत्मरक्ष देव थे। तीन प्रकार की सभा में अन्तःपरिषद में एक सौ पच्चीस देव, मध्यमपरिषद में दो सौ पचास देव और बाह्यपरिषद में पाँच सौ देव थे। चारों दिशाओं की रक्षा करने वाले चार लोकपाल थे।

इन अच्युतेन्द्र की आठ महादेवियाँ थीं। त्रेसठ बल्लभिका देवियाँ थी। एक-एक महादेवी ढाई सौ-ढाई सौ अन्य देवियों से घिरी रहती थीं। इस इंद्र की प्रत्येक देवी अपनी विक्रिया से दश लाख चौबीस हजार सुन्दर स्त्रीरूप बना सकती थी।

हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, बैल, गंधर्व और नृत्यकारिणी के भेद से इंद्र की सेना में सात कक्षायें थीं। पहली सेना में बीस हजार हाथी थे, फिर आगे की कक्षाओं में दूनी-दूनी संख्या थी, इस प्रकार इंद्र की यह विशाल सेना थी।

इस इंद्र की एक-एक देवी की तीन-तीन सभायें थीं। उनमें से पहली सभा

में 25 अप्सरायें थीं, दूसरी सभा में 50 एवं तीसरी सभा में 100 अप्सरायें थीं।

इस अच्युतेन्द्र का इंद्राणियों के साथ मैथुन मानसिक था। ये बाईस हजार वर्षों में एक बार मानसिक आहार लेते थे। ग्यारह महिने में एक बार श्वासोच्छ्वास लेते थे और इनके शरीर की अवगाहना तीन हाथ प्रमाण थी।

ये इंद्र अपनी इंद्राणी और अनेक परिवार देवों के साथ भगवान् के पंचकल्याणकों में जाकर अतिशय भक्ति किया करते थे।

कभी-कभी इन्द्र की सभा में अप्सराओं के नृत्य हुआ करते थे, जिसमें तीर्थंकर भगवंतों के गुणानुवाद गाये जाते थे। इस तरह संगीत, नृत्य आदि के द्वारा मनोरंजन करते-कराते बहुत सा काल इंद्रराज का व्यतीत हो रहा था।

ये अच्युतेन्द्र नंदीश्वर द्वीप में वर्ष में तीन बार आष्टान्हिक पर्व में पहुँचते थे। वहाँ असंख्य देव परिकर के साथ मिलकर नंदीश्वर के बावन जिनमंदिरों में विराजमान जिनप्रतिमाओं का अभिषेक करके विशेष-संगीत, नृत्य आदि से चौबीस घण्टे अखण्ड पूजा करते थे। प्रत्येक जिनमंदिर में 108-108 जिनप्रतिमाएं वहाँ विराजमान हैं। प्रत्येक जिनप्रतिमा के आजू-बाजू में श्रीदेवी, लक्ष्मीदेवी और श्रुतदेवी-सरस्वती देवी विराजमान रहती हैं तथा सर्वाण्ह यक्ष और सनत्कुमार यक्ष की मूर्तियाँ भी रहती हैं। इसी तरह आठ-आठ मंगल एक-एक प्रतिमाओं के गर्भगृह में रहते हैं जो कि प्रत्येक 108-108 रहते हैं।

कहा भी है–

सिरिदेवी सुददेवी सव्वण्हसणक्कुमारजक्खाणं।
रूवाणि य जिणपासे मंगलमट्ठविहमवि होदि।।[1]

आठ दिन तक लगातार चारों निकायों के देव-भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवगण वहाँ आठवें नंदीश्वर द्वीप में पूजा करते रहते हैं पुनः वहाँ पूजा पूर्ण कर वापिसी में ढाई द्वीप के अंतर्गत सुदर्शनमेरु, विजयमेरु, अचलमेरु, मंदरमेरु और विद्युन्मालीमेरु की तीन-तीन प्रदक्षिणा देकर पूजा, भक्ति करके अपने-अपने स्वर्गों में चले जाते हैं।

जम्बूद्वीप में सुदर्शनमेरु है जो कि विदेहक्षेत्र में ठीक मध्य में स्थित है। धातकी खण्ड में पूर्वधातकी खण्ड में विजयमेरु एवं पश्चिमधातकी खण्ड में

१. त्रिलोकसार, गाथा ९८८।

अचलमेरु है। पुष्करार्ध द्वीप में पूर्व पुष्करार्ध में मंदरमेरु एवं पश्चिम पुष्करार्ध में विद्युन्माली मेरु है। धातकी खण्ड में दक्षिण और उत्तर में इष्वाकार पर्वत होने से इसके पूर्वधातकी खण्ड और पश्चिम धातकी खण्ड ऐसे दो भेद हो गये हैं। ऐसे ही पुष्कर द्वीप में बीचों-बीच में मानुषोत्तर पर्वत होने से उसके आधे भाग में कर्मभूमि है– मनुष्यों का अस्तित्व है और मानुषोत्तर से परे मनुष्यों का अस्तित्व नहीं है अतः वहाँ मात्र तिर्यंचों की भोगभूमि है।

मानुषोत्तर के इधर के भाग में दक्षिण-उत्तर में इष्वाकार पर्वतों के होने से इस पुष्करार्ध के भी पूर्व-पश्चिम ऐसे दो भाग हो गये हैं। इन्हीं के पूर्व में मंदरमेरु एवं पश्चिम में विद्युन्माली मेरु हैं।

प्रथम स्वर्ग से लेकर सोलहवें स्वर्ग तक के इंद्र एवं देवगण अपनी इंद्राणी, देवी आदि के साथ मध्यलोक में आते रहते हैं और सुमेरु पर्वत से लेकर तेरह द्वीपों के 458 ऐसे अकृत्रिम जिन मंदिरों की वंदना किया करते हैं। इन अच्युत स्वर्ग से ऊपर के सभी देव 'अहमिंद्र' कहलाते हैं। उसके न तो देवियाँ हैं न परिवार देव ही हैं। वे अपने स्थान से वहीं अपने-अपने विमानों में स्थित जिनमंदिरों में विराजमान जिनबिंबों की पूजा करते हैं, यहाँ मध्यलोक में उनका आना-जाना नहीं है।

इस प्रकार वह अच्युतेन्द्र अपने प्रतीन्द्र के साथ पूरे स्वर्ग के सुखों का अनुभव करके वहाँ जीवन भर जो जिनेन्द्रभक्ति पूजा से महान् पुण्य अर्जित किया था उसके फलस्वरूप अपनी आयु के अंत में वहाँ से च्युत होकर यहाँ मध्यलोक में विदेह क्षेत्र में रानी श्रीकांता के गर्भ में आ गया और जन्म लेकर चक्रवर्ती 'वज्रनाभि' हो गया।

(8) चक्रवर्ती वज्रनाभि

जम्बूद्वीप से पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश है। उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में राजा वज्रसेन राज्य करते थे जो कि तीर्थंकर थे। उनकी रानी का नाम श्रीकांता था।

सुविधि राजर्षि जो कि अच्युतेन्द्र हुए थे, उनका जीव स्वर्ग से चलकर श्रीकांता रानी के 'वज्रनाभि' नाम का पुत्र हुआ। पहले कहे हुए सिंह, सूकर,

वानर और नकुल के जीव भी जो कि अच्युत स्वर्ग में सामानिक देव हुए थे, वे उन्हीं रानी से क्रमशः विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित नाम के पुत्र हो गये। वज्रजंघ की पर्याय में जो मतिवर आदि मंत्री के जीव थे, वे राजा वज्रजंघ के मरने के बाद दीक्षा लेकर अंत में मरकर ग्रैवेयक में अहमिंद्र हुए थे। वे भी उन्हीं श्रीकांता रानी के क्रमशः सुबाहु, महाबाहु, पीठ और महापीठ नाम के पुत्र हो गये। श्रीमती का जीव केशव जो कि अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था, वह भी वहाँ से चयकर उसी नगरी में कुबेरदत्त वणिक् की अनंतमती भार्या से 'धनदेव' नाम का पुत्र हो गया जो कि चक्रवर्ती वज्रनाभि का गृहपति रत्न हुआ है।

किसी समय तीर्थंकर वज्रसेन को वैराग्य होते ही लौकांतिक देवों ने आकर प्रभु की पूजा-स्तुति करके दीक्षा की अनुमोदना की। राजा वज्रसेन ने भी युवा पुत्र वज्रनाभि को समस्त पृथ्वी का राज्यभार सौंप पट्ट बाँध करके मुकुटबद्ध राजाओं से नमस्कार कराते हुए ऐसा आशीर्वाद दिया 'तू बड़ा भारी चक्रवर्ती हो' और आप देवों द्वारा आनीत पालकी में बैठकर आम्रवन में पहुंचे जहाँ एक हजार राजाओं के साथ स्वयं दीक्षा ग्रहण कर ली।

इधर राजा वज्रनाभि की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ और उधर पिता वज्रसेन को केवलज्ञान प्रगट हो गया था। राजा वज्रनाभि चक्ररत्न से छह खंड वसुधा को जीतकर छियानवे रानियों से युक्त एकछत्र साम्राज्य का उपभोग कर रहे थे। किसी समय पिता वज्रसेन तीर्थंकर से धर्मोपदेश सुनकर सम्पूर्ण साम्राज्य को जीर्ण-तृण के समान मानकर एक क्षण में त्याग कर दिया और सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं, एक हजार पुत्रों, आठ भाइयों और धनदेव के साथ-साथ मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से पिता वज्रसेन तीर्थंकर के समवसरण में ही जैनेश्वरी दीक्षा ले ली।

तेरह प्रकार का चारित्र, बारह प्रकार का तप, बाईस परिषह आदि उत्तर गुणों का पालन करते हुए उन मुनिराज ने तीर्थंकर के पादमूल में सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन किया था।

उन सोलहकारण भावनाओं के नाम निम्न प्रकार हैं–

1. दर्शनविशुद्धि 2. विनयसंपन्नता 3. शीलव्रतेष्वनीचार 4. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग

5. संवेग 6. शक्तिस्त्याग 7. शक्तितस्तप 8. साधु समाधि 9. वैयावृत्यकरण 10. अर्हद्भक्ति 11. आचार्यभक्ति 12. बहुश्रुतभक्ति 13. प्रवचनभक्ति 14. आवश्यक अपरिहाणि 15. मार्गप्रभावना और 16. प्रवचनवत्सलता।

सम्यग्दर्शन को विशुद्धि रखना, विनय से सम्पन्न होना, शीलव्रतों में अतिचार न लगाना, नित्य ही ज्ञानोपयोग में लीन रहना, संसार से भीरुता, शक्ति के अनुसार तप करना, ज्ञान और संयम के साधनाभूत पदार्थों का त्याग (दान) करना, साधुओं के व्रतादि में विघ्न आने पर उन्हें दूर करना, साधुओं की वैयावृत्ति करना, अरहंत भगवान् की भक्ति, आचार्य की भक्ति, बहुश्रुत मुनियों की भक्ति और प्रवचन की भक्ति करना, आवश्यक क्रियाओं का पूर्णरूप से पालन करना, जैन धर्म की प्रभावना करना तथा धर्मात्माओं में अखंड प्रेम रखना। इस प्रकार की सोलह भावनाओं का उत्कृष्ट रीति से चिंतन करते हुए उन धीर-वीर वज्रनाभि मुनिराज ने तीन लोक में क्षोभ उत्पन्न करने वाली तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया।

उन मुनिराज को ऋद्धियों की बिल्कुल भी इच्छा नहीं थी फिर भी अणिमा, महिमा आदि गुणों सहित विक्रिया ऋद्धि प्रगट हो गई। कोष्ठ बुद्धि, बीज बुद्धि आदि बुद्धि ऋद्धियाँ भी उत्पन्न हो गईं। जगत् का हित करने वाली जल्लौषधि, सर्वौषधि आदि ऋद्धियों ने भी उनका वरण किया, यद्यपि मुनिराज ने घी, दूध आदि रस का त्याग कर दिया था तो भी घी, दूध आदि को झराने वाली अनेकों रस ऋद्धियाँ भी प्रगट हुई थीं। वे बल ऋद्धि के प्रभाव से कठिन से कठिन परिषह भी सह लेते थे।

अक्षीण ऋद्धि के बल से वे जिस दिन घर आहार लेत थे, उस दिन उस घर में अन्न अक्षय हो जाता था-चक्रवर्ती के कटक को भोजन कराने पर भी वह भोजन क्षीण नहीं होता था। इस प्रकार वे मुनिराज सदैव छठे-सातवें गुणस्थान में चढ़ते-उतरते रहते थे।

परिणामों की विशुद्धि से वे सातिशय अप्रमत्त नाम सातवें गुणस्थान से आगे बढ़कर उपशम श्रेणी में चढ़ गये अर्थात् आठवें, नवमें, दशवें और ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँच गये। अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर वे मुनि नीचे उतर कर पुनः स्वस्थान अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान में स्थित हो गये। उसका खास

कारण यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त ही है। तत्पश्चात् आयु के अंत में श्रीप्रभ पर्वत पर पहुंचकर वज्रनाभि महामुनि ने प्रायोपगमन संन्यास ग्रहण कर लिया। वे उस समय स्वयं तथा पर से किंचित् भी शरीर का उपचार नहीं करते थे, न कराते ही थे। उस समय उनके शरीर में चर्म और हड्डी मात्र ही शेष रह गई थी, तो भी वे निश्चल चित्त निराकुलता से ध्यानस्थ थे।

वे द्वितीय बार उपशम श्रेणी पर आरुढ़ हुए और पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यान को पूर्ण कर उत्कृष्ट समाधि को प्राप्त हुए। अंत में उपशांतमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में प्राण छोड़कर सर्वार्थसिद्धि पहुँचे और वहाँ अहमिंद्र पद को प्राप्त हो गये।

(9) सर्वार्थसिद्धि के अहमिंद्र देव

वज्रनाभि चक्रवर्ती उपशम श्रेणी में ध्यान में आरूढ़ थे, उनकी आयु पूर्ण हो गई और उन महामुनि ने शुक्ल ध्यान के प्रभाव से तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ ऐसे सर्वार्थसिद्धि नाम के विमान में जन्म धारण किया। यह विमान लोक के अंतिम भाग से बारह योजन नीचे है अर्थात् इस विमान से बारह योजन ऊपर सिद्ध शिला है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई और गोलाई जम्बूद्वीप के बराबर है– एक लाख योजन है। यह स्वर्ग के त्रेसठ पटलों के अंत में चूड़ामणि रत्न के समान स्थित है। चूँकि उस विमान में उत्पन्न होने वाले जीवों के सम्पूर्ण मनोरथ अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं इसलिए उसका सर्वार्थसिद्धि यह सार्थक नाम है। उस विमान में निर्ग्रन्थ दिगम्बर महामुनि ही जन्म लेते हैं।

इस प्रकार अकृत्रिम और श्रेष्ठ रचना से शोभायमान उस विमान में उपपाद शय्या में वह देव क्षण भर में पूर्ण शरीर को प्राप्त हो गया। दोष, धातु, मल और पसीना आदि से रहित, सुन्दर लक्षणों से युक्त तथा पूर्ण यौवन अवस्था को प्राप्त उसका शरीर क्षण भर में ही प्रगट हो गया। उसके जन्म लेते ही वहाँ उत्तम-उत्तम बाजे बजने लगे सर्वत्र हर्ष की लहर दौड़ गई। वह अहमिंद्र साथ-साथ उत्पन्न हुए वस्त्र, अलंकार, दिव्य माला आदि से अतिशय सुन्दर था। एक हाथ का उस का दिव्य वैक्रियक शरीर था, तेंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु थी। तेंतीस हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर उसका दिव्य मानसिक अमृत

का आहार था और साढ़े सोलह महीने व्यतीत होने पर श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता था ''मैं इंद्र हूँ, मैं इंद्र हूँ'' इस प्रकार वहाँ के सभी उत्तम देव 'अहमिंद्र' इस अन्वर्थ नाम को धारण करते थे। वहाँ उन अहमिंद्रों में न तो परस्पर में असूया है, न परनिन्दा है, न आत्म प्रशंसा है और न ईर्ष्या ही है। वे सभी पूर्णतया सुखी हुए हर्षयुक्त निरन्तर क्रीड़ा करते रहते हैं। इन सबका शरीर श्वेतवर्ण का रहता है। इन सबकी लेश्यायें, वस्त्राभरण आदि श्वेत-शुक्ल रहते हैं।

वहाँ जन्म लेने के बाद उन अहमिंद्र ने अपने विमान में स्थित अतिशायी जिनमंदिर में जाकर भगवान् की प्रतिमाओं का अभिषेक किया। दिव्य अष्ट द्रव्य की सामग्री और दिव्य रत्नों के थाल भरकर भगवान् का पूजन किया।

चक्रवर्ती वज्रनाभि की पर्याय में जो विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित, बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ नाम के भाई थे तथा रानी श्रीमती का जीव जो कि 'धनदेव' नाम से चक्रवर्ती का गृहपति रत्न हुआ था। इन नौ महामुनियों ने भी तपश्चर्या के प्रभाव से वहीं सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र पद को प्राप्त हुए थे। ये सब अपने-अपने अवधिज्ञान से अपने स्वामी 'वज्रनाभि' चक्रवर्ती के जीव ऐसे अहमिंद्र के पास आये और पूर्वभवों की चर्चा तथा धर्म के माहात्म्य की प्रशंसा करते हुए मनोविनोद करने लगे।

ये सर्वार्थसिद्धि के अहमिंद्र अपने अवधिज्ञान से सम्पूर्ण लोक के मूर्तिक पदार्थों को देखते रहते थे लेकिन कहीं भी इनका गमनागमन नहीं था। अतः एक दिन इन सभी ने निर्णय किया कि-

आज हम सभी यहीं से परोक्ष में सुदर्शनमेरु पर्वत के सोलह जिन मंदिरों की पूजा करेंगे। वे सब वहीं से सुमेरु पर्वत को मानों साक्षात् देखते हुए के समान ही उसकी पूजा कर रहे थे। ऐसे ही कभी नन्दीश्वर द्वीप के जिनालयों की, कभी मध्यलोक के 458 जिनमंदिरों की, कभी तीन लोक के सम्पूर्ण 8 करोड़ 56 लाख 97 हजार 481 जिनमंदिरों में विराजमान सम्पूर्ण जिनप्रतिमाओं की पूजा, भक्ति, स्तुति किया करते थे।

कभी-कभी तीर्थंकर के जन्मकल्याणक के निमित्त से वहाँ पर बाजों के बजने से 'भगवान् का जन्म हुआ है' ऐसा जानकर परोक्ष में ही सात पैंड आगे जाकर नमस्कार करते थे।

कभी-कभी ये अहमिंद्र वहाँ पर तत्त्वचर्चा किया करते थे-जैसे कि– 'जो संसार के दुःखों से प्राणियों को निकाल कर उत्तम सुख में पहुँचावे वही धर्म है।

'आत्मा शक्तिरूप से परमात्मा है, जैसे कि बीज में शक्तिरूप से वृक्ष विद्यमान है, दूध में घी है, तिल में तेल है ऐसे ही आत्मा में परमात्मा छिपा हुआ है उसे प्रयोग से– सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के बल से प्रगट किया जा सकता है।'

''जो जीव अपनी आत्मा को भगवान् बना लेते हैं, शुद्ध सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं वे फिर कभी संसार में जन्म नहीं धारण करते हैं।

'संसार में पंचेन्द्रिय के विषय सुखों में आसक्त हुआ प्राणी बार-बार नरक, निगोदों में तिर्यंच योनियों में अनेक प्रकार के दुःख उठाता रहता है। जब यही प्राणी सच्चे अहिंसामयी परमधर्म का आश्रय ले लेता है तब सदा-सदा के लिए नित्य, निरंजन, निर्विकार, चिच्चैतन्यस्वरूप परमपद को प्राप्त कर लेता है।

अहो! हम सभी ने कई जन्मों में महान पुण्य संचित किया है, सच्ची निर्दोष तपस्या की है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष और मत्सर आदि अंतरंग शत्रुओं को वश में किया है। तभी ये उत्तम अहमिंद्र पद प्राप्त हुआ है।

अब हमें यहाँ के सुखों को भोगकर मनुष्य पर्याय प्राप्त करना है। हम सभी नियम से उस मनुष्य भव में मुनि बनेंगे और मोक्ष को प्राप्त करेंगे। हम सभी एक भवावतारी हैं, हमारे संसार का अब अन्त आ चुका है।

वज्रनाभि के जीव अहमिंद्र जो कि आगे तीर्थंकर होने वाले थे छह महीने पूर्व से ही इस मध्यलोक के जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में अयोध्या नगरी की रचना की गयी। सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने माता मरुदेवी के आँगन में रत्न बरसाना शुरू किया। तभी वहाँ के अहमिंद्रों ने आकर उन भावी तीर्थंकर के गुणों की स्तुति करना प्रारंभ कर दिया।

'हे स्वामिन् ! आप धन्य हैं, आपके प्रसाद से ही हम सभी ने धर्म को पाया है और आगे भी आपके तीर्थ में ही हम सभी मोक्ष को प्राप्त करेंगे।'

इत्यादि प्रकार से धर्मचर्चा करते हुए वज्रनाभि के जीव अहमिंद्र ने अपनी तेंतीस सागर की आयु पूर्ण कर ली और मध्यलोक में आने के सन्मुख हो गये। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव का यह नवमां अवतार हुआ है।

(10) भगवान् ऋषभदेव

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र सम्बंधी आर्य खण्ड में भोगभूमि का तृतीय काल समाप्त होने वाला था कि चौदह कुलकरों में अंतिम कुलकर श्री नाभिराज हुए थे। उस समय इंद्र ने उत्तम कुल में जन्मी कन्या मरुदेवी के साथ नाभिराज का विवाहोत्सव बड़ी विभूति के साथ कराया था। मरुदेवी और नाभिराज से अलंकृत पवित्र स्थान में उनके पुण्य के द्वारा बार-बार बुलाये हुए इंद्र ने एक नगरी की रचना की। इंद्र की आज्ञा से बड़े-बड़े उत्साही देवों ने उसे स्वर्गपुरी के समान अत्यन्त सुन्दर बनाई और उसका अयोध्या नाम रखा। अनन्तर इंद्र ने शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभ योग और शुभ लग्न में हर्षित होकर उस नगरी में पुण्याहवाचन किया। उसी समय आनन्दित हो नाभिराज ने मरुदेवी के साथ अयोध्या नगरी में निवास करना प्रारंभ किया। 'इन दोनों के सर्वज्ञ ऋषभदेव पुत्र जन्म लेंगे' यह समझकर इंद्र ने अभिषेकपूर्वक उन दोनों की महती पूजा की।

गर्भावतार

अनन्तर छह महीने बाद भगवान् ऋषभदेव वहाँ स्वर्ग से अवतार लेंगे, ऐसा जानकर इंद्र की आज्ञा से प्रेरित कुबेर ने आकाश से रत्नों की वर्षा करना प्रारंभ कर दिया। वह इंद्रनीलमणि, हरिन्मणि, पद्मरागमणि आदि की वर्षा ऐसी शोभित हो रही थी कि मानो ऋषभदेव की सम्पत्ति उत्सुकता के कारण उनके आने के पहले ही यहाँ आ गई हो। किसी दिन माता मरुदेवी राजमहल में कोमल शय्या पर सो रही थीं। उन्होंने रात्रि के पिछले प्रहर में ऐरावत हाथी, श्वेत बैल आदि सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल के बाजों की ध्वनि और मंगल गीतों से वे जग गईं। हर्षित हुई मरुदेवी मंगल स्नान पर प्रातःकालीन चर्या से निवृत्त होकर महाराज नाभिराज के पास पहुँची और विनय सहित स्वप्नों का निवेदन किया। महाराज नाभिराज ने भी अवधिज्ञान से इन स्वप्नों के फल को जानकर स्पष्टतया फल बताया और कहा कि देवी! तुम्हारे गर्भ में तीन लोक के नाथ तीर्थंकर का जीव आ गया है। उस समय मरुदेवी हर्षातिरेक से रोमांचित हो गईं थीं। जब

अवसर्पिणी काल के तीसरे सुषमा-दुषमा नामक काल में चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष बाकी रह गया था, तब आषाढ़ कृष्णा द्वितीया के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में वज्रनाभि अहमिंद्र सर्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर मरुदेवी के गर्भ में अवतीर्ण हुए और वहाँ सीप के संपुट में मोती के समान सब बाधाओं से निर्मुक्त हो स्थित हो गये।

उसी समय सभी इंद्र अपने-अपने यहाँ होने वाले चिन्हों से भगवान् का गर्भावतार जानकर वहाँ आये। नगरी की प्रदक्षिणा देकर माता-पिता को नमस्कार किया। महाराजा नाभिराज का महल देवों से खचाखच भर गया। गर्भकल्याणक महोत्सव मानकर वे देव स्व-स्व स्थान चले गये। इंद्र की आज्ञा से दिक्कुमारी देवियाँ दासी के समान माता की सेवा में तत्पर थीं। श्री, ह्री आदि देवियों ने स्वर्ग से लाये हुए पवित्र पदार्थों के द्वारा माता का गर्भ शोधन किया था। उस समय कोई देवी माता के समक्ष आठ मंगल द्रव्य धारण करतीं, कोई शय्या बिछातीं, कोई पैर दबातीं, कोई मंगल स्तोत्र सुनाती थीं। कितनी ही देवियाँ सायंकाल के समय माता की आरती उतारती थीं। वे देवियाँ नृत्य, गीत आदि महोत्सवों से माता का मनोरंजन किया करती थीं, उनके गीत तीर्थंकर अरहंत, सिद्ध आदि की स्तुति रूप या माता की स्तुति रूप ही रहते थे। जिन बालक के गर्भ में स्थित होने से माता को रंच मात्र भी कष्ट नहीं हुआ था। न तो माता का उदर ही वृद्धिगंत हुआ और न मुख पर पीलापन ही आया था।

नौवाँ महीना निकट आने पर वे देवियाँ अनेक काव्यगोष्ठियों, गूढ़ प्रश्नों द्वारा मरुदेवी को प्रसन्न करने लगीं। एक देवी ने पूछा – हे मातः ! तुम्हारे गर्भ में कौन है? ऐसी कौन-सी वस्तु है जो तुम्हारे पास नहीं है? बहुत खाने वाले को कौन-सी वस्तु मारती है? इन तीनों का उत्तर ऐसा दीजिए कि जिसमें अन्त का व्यंजन एक-सा हो। माता ने कहा, 'तुक्', 'शुक्', 'रुक्' अर्थात् हमारे गर्भ में पुत्र हैं। हमारे समीप शोक नहीं है, अधिक खाने वाले को रोग मार डालता है। वे देवियाँ अनेकों अलंकार भरे स्तोत्रों से माता की स्तुति करती थीं।

मुदेस्तु वसुधारा ते देवताशीस्तातांबरा।
स्तुतादेशे नभाताधा वशीशे स्वस्वनस्तसु[1]।।254।।

अर्थ – जिसकी आज्ञा अत्यन्त प्रशंसनीय है और जो जितेन्द्रिय पुरुषों में अत्यन्त श्रेष्ठ है, ऐसी हे मातः! देवताओं के आशीर्वाद से आकाश को व्याप्त करने वाली अत्यन्त सुशोभित, जीवों की दरिद्रता को नष्ट करने वाली और नम्र होकर आकाश से पड़ती हुई यह रत्नों की वर्षा तुम्हारे आनन्द के लिए हो। इत्यादि अनेकों अलंकारों से सहित स्तोत्रों से वे देवियाँ माता की स्तुति करते हुए अनेकों गूढ़ प्रश्नों के उत्तर तत्क्षण प्राप्त कर लेती थीं। इंद्र के द्वारा भेजी गई इंद्राणी भी अपने पापों का नाश करने के लिए अप्सराओं के साथ गुप्त रूप से महासती जिन माता की सेवा किया करती थीं।

जन्म कल्याणक

अनन्तर प्राची दिशा के समान मरुदेवी ने चैत्र कृष्णा नवमी के दिन सूर्योदय के समय त्रैलोक्य तेजोपुँज जिन बालक रूपी सूर्य को जन्म दिया। तत्क्षण ही देवों के यहाँ बिना बजाये बाजे उच्च ध्वनि से बजने लगे। तीन लोक में सर्वत्र महामंगलमय वातावरण हो गया। सौधर्म इन्द्र ने असंख्य देवों के साथ ऐरावत हाथी पर चढ़कर अयोध्या नगर में आकर नगरी की तीन प्रदक्षिणा दी। शची ने प्रसूति गृह में प्रवेश कर प्रदक्षिणा आदि विधि से माता और पुत्र की स्तुति, भक्ति करके माता को मायामयी नींद से युक्त कर, पास

आदिपुराण

१. इस श्लोक में चित्रालंकार है। यह अर्धभ्रम श्लोक है इस श्लोक में तृतीय और चतुर्थ चरण के अक्षर प्रथम तथा द्वितीय चरण में आ गये हैं। इसके लिखने का तरीका यह है–

मु	दे	स्तु	व	सु	धा	रा	ते
दे	व	ता	शी	स्त	ता	म्ब	रा
स्तु	ता	दे	शे	न	भा	ता	धा
व	शी	शे	स्व	स्व	न	स्त	सु

इसके पढ़ने का तरीका यह है कि प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ खाने के प्रथम-प्रथम अक्षर पढ़कर नीचे से अंतिम खाने के चारों अक्षर पढ़े। पुनः द्वितीय खाने के चारों अक्षर पढ़कर नीचे से सातवें खानें के चारों अक्षर पढ़े। पुनः तृतीय खानों में चारों अक्षर पढ़कर नीचे से छठे खानों के चारों अक्षर पढ़े। पुनः चतुर्थ खाने के चारों अक्षर पढ़कर पंचम खानों को पढ़े।

में अन्य मायामयी बालक सुलाकर वह इंद्राणी जिन शिशु सूर्य को बड़े ही आदर से ले आई और इंद्र के कर कमलों में सौंप दिया। इंद्र ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर पांडुक शिला पर तत्काल जन्मे हुए जिन बालक का स्वर्णमय हजारों घड़ों से अभिषेक महोत्सव मनाया।

अनन्तर करोड़ों स्तुतियों से स्तुति करते हुए कहा कि – हे भगवन् ! आप दशावतार-चरम-दस अवतारों में अंतिम परमौदारिक शरीर को धारण करने वाले नाभिराज के पुत्र ऋषभदेव हुए हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो।

इस प्रकार से करोड़ों स्तुतियों से मुखरित इंद्र ने भगवान् को वापस लाकर बड़े ही उत्सव के साथ माता-पिता को सौंप दिया और अयोध्या नगरी में भी तांडव नृत्य आदि पूर्वक महान् महोत्सव करके बहुत से देवों को जिन बालक के साथ क्रीड़ा हेतु छोड़कर स्वयं स्व-स्थान को चले गये।

युगस्रष्टा आदिब्रह्मा

भगवान् ऋषभदेव के शरीर का वर्ण तपाये हुए स्वर्ण सदृश था और इतना सुन्दर था कि इंद्र ने एक हजार नेत्र बना लिए और प्रभु के रूप का अवलोकन किया, फिर भी तृप्त नहीं हुआ। प्रभु के शरीर की अवगाहना पाँच सौ धनुष (2000 हाथ प्रमाण) थी, और आयु चौरासी लाख पूर्व वर्ष की थी। वे भगवान् सरस्वती के एकमात्र स्वामी थे इसलिए उन्हें सम्पूर्ण वाङ्मय प्रत्यक्ष हो गये थे और इसीलिए वे समस्त लोक के गुरु हो गये थे। देवों द्वारा लाये गये दिव्य भोगोपभोग सामग्री का अनुभव करते हुए भगवान् का शैशव काल व्यतीत हो गया।

किसी समय महाराजा नाभिराज ऋषभदेव के समीप आकर बोले – कि हे देव! यद्यपि मैं यथार्थ में आपका पिता नहीं हूँ। निमित्त मात्र से ही पिता हूँ। फिर भी मैं एक अभ्यर्थना करता हूँ कि आप इस समय संसार की सृष्टि की ओर अपनी बुद्धि लगाइये, क्योंकि आप आदिपुरुष हैं, सारी प्रजा आपका ही अनुसरण करेगी। अतः इष्ट कन्या के साथ विवाह कर लीजिए। जिससे प्रजा की संतति का उच्छेद न होकर धर्म की संतति चलती रहे। ऐसा सुनकर भगवान् ने हँसते हुए 'ओम्' कहकर स्वीकार कर लिया।

१. ८४००००० को ८४००००० से गुणा करने पर पूर्व बनता है। पूर्व= ७०५६०००००००० (महापुराण, पर्व ३, श्लोक २१८)

महाराज नाभिराज ने इंद्र की अनुमति से सुशील और सुन्दर कच्छ महाकच्छ राजा की बहनें यशस्वती और सुनंदा, इन दो कन्याओं के साथ प्रभु का विवाह कर दिया, विवाहोत्सव में इंद्रादि देवों ने और प्रजा ने जो आनन्द उत्सव मनाया था उसका यहाँ क्या कहना? सुख पूर्वक बहुत कुछ काल के व्यतीत हो जाने पर रानी यशस्वती ने चक्रवर्ती को जन्म दिया तथा क्रम से अन्य भी निन्यानवे पुत्रों को जन्म दिया। सुनंदा रानी ने कामदेव बाहुबलि और सुन्दरी कन्या को जन्म दिया। महाराज नाभिराज इन सब पुत्र, पुत्रवधु, पौत्र, पौत्रियों से घिरे हुए अतिशय प्रसन्न रहते थे। भगवान् ऋषभदेव की वज्रनाभि पर्याय में जो सुबाहु, महाबाहु, पीठ, महापीठ, विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित भाई थे, वे ही भगवान् के क्रमशः भरत, बाहुबलि, वृषभसेन, अनन्तविजय, अनन्तवीर्य, अच्युत , वीर और वरवीर नाम के पुत्र हो गये। ये सभी मोक्षगामी थे।

विद्यादान

किसी समय भगवान् सिंहासन पर सुख से बैठे थे कि उन्होंने अपना चित्त कला और विद्याओं के उपदेश देने में लगाया। उसी समय मांगलिक वेषभूषा से युक्त ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों कन्याएं प्रभु के पास आकर नमस्कार करने लगीं। प्रभु ने बड़े प्रेम से उन्हें गोद में बिठा लिया और बार-बार उन पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया और कहा कि हे पुत्रियों! विद्या ग्रहण करने में प्रयत्न करो, क्योंकि विद्या ग्रहण का यही काल है। भगवान् ने सुवर्ण के विस्तृत पट्टे पर अपने चित्त में स्थित श्रुतदेवता को स्थापित किया। अनन्तर 'सिद्धं नमः' मंगलाचरण पूर्वक ब्राह्मी को दाहिने हाथ से 'अ आ इ ई' आदि वर्णमाला लिखकर उन्हें लिपि विद्या का उपदेश दिया और बायें हाथ से इकाई, दहाई आदि अंक लिखकर सुन्दरी को अंक विद्या का उपदेश दिया। उन पुत्रियों ने पिता के मुख से क्रमशः समस्त वाङ्मय का अध्ययन कर लिया।

जगद्गुरु भगवान् ने भरत आदि पुत्रों को भी अनेक शास्त्र पढ़ाये। भरत को अर्थशास्त्र और नृत्य शास्त्र पढ़ाया, वृषभदेव को गंधर्व शास्त्र, अनन्तविजय को चित्रकला शास्त्र, अनन्तवीर्य को सूत्रधार की विद्या तथा मकान बनाने की विद्या का उपदेश दिया। बाहुबलि को कामनीति, स्त्री-पुरुष के लक्षण, आयुर्वेद,

धनुर्वेद, घोड़ा, हाथी आदि के लक्षण जानने के तंत्र, रत्न परीक्षा आदि अनेकों शास्त्र पढ़ाये। अधिक कहने से क्या? लोक में उपकारी जितने भी शास्त्र हैं, भगवान् ऋषभदेव ने अपने सभी पुत्रों को सभी पढ़ाये थे। यह उपर्युक्त कथन उन-उन विषय की मुख्यता की अपेक्षा है।

इस प्रकार अनेक सुखों का अनुभव करते हुए भगवान् का बीस लाख पूर्व वर्षों का कुमारकाल बीत गया। इसी बीच में काल के प्रभाव से महौषधि, दीप्तौषधि, कल्पवृक्ष शक्तिहीन हो गये। बिना बोये उत्पन्न धान्य भी अत्यल्प रह गये। तब व्याकुलचित्त हुई प्रजा महाराज नाभिराज की शरण में आई। नाभिराज ने उन्हें वृषभदेव के समीप भेज दिया। प्रजा आकर प्रभु को नमस्कार कर प्रार्थना करने लगी– भगवन् ! बढ़ती हुई भूख-प्यास की बाधाओं से हम लोग दुःखी हो रहे हैं, हमें अपने जीवित रहने का उपाय बतलाइये, हम लोगों पर प्रसन्न होइये। प्रजा के दीन वचनों को सुनकर दयार्द्रचेता भगवान् ने विचार किया कि पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्र में जो स्थिति वर्तमान में है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करना योग्य है इत्यादि सोचकर प्रजा को आश्वासन दिया।

भगवान के स्मरण मात्र से ही तत्क्षण देवों सहित इंद्र वहाँ आया और शुभ दिन, शुभ नक्षत्रादि, मुहूर्त में सर्वप्रथम मांगलिक कार्यरूप अयोध्यापुरी के बीच में जिन मंदिर का निर्माण किया। चारों दिशाओं में भी जिन मंदिर का निर्माण किया। अनन्तर कौशल आदि महादेश, अयोध्या आदि नगर, अंग, बंग, कुरुजांगल, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, केरल, कर्णाट, आन्ध्र आदि देशों की रचना की। अच्छे ढंग से मकान आदि बनाकर उन स्थानों में प्रजा को बसाकर कृतकृत्य होता हुआ इंद्र प्रभु की आज्ञा लेकर स्वर्ग चला गया।

आजीविका का उपदेश

भगवान् ने प्रजा की आजीविका के लिए असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह क्रियाओं का उपदेश दिया। उस समय भगवान् सरागी (गृहस्थ) थे, वीतरागी नहीं थे। उसी समय आदि ब्रह्मा भगवान् ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना की। उस समय जितने पाप रहित आजीविका के उपाय थे, वे सब भगवान् की सम्मति से प्रवृत्त हुए थे,

सो ठीक है क्योंकि सनातन ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव ही थे। चूँकि युग के आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव ने इस प्रकार कर्मयुग का प्रारंभ किया था। इसलिए पुराण पुरुष उन्हें कृतयुग नाम से जानते हैं। कृतकृत्य भगवान् ऋषभदेव आषाढ़ कृष्ण प्रतिपदा के दिन कृतयुग का प्रारंभ करके प्रजापति, युगस्रष्टा आदिब्रह्मा, विधाता आदि कहलाने लगे।

अनन्तर सुखपूर्वक रहते हुए कुछ दिन बाद नाभिराज आदि को लेकर बड़े-बड़े राजाओं ने और इंद्रादि देवों ने मिलकर अतीव वैभव के साथ भगवान् का 'सम्राट्' पद पर अभिषेक किया। भगवान राजाधिराज होकर समस्त प्रजा का पुत्रवत् पालन कर रहे थे। भगवान् ने हरि, अकंपन, काश्यप और सोमप्रभ इन चार महाभाग्यशाली क्षत्रियों को बुलाकर उनका राज्याभिषेक कर उन्हें महामांडलीक राजा बनाया। 'सोमप्रभ' कुरुदेश के राजा कुरुवंश, 'हरि' हरिवंश शिरोमणि', 'अकंपन' नाथवंशी, और 'काश्यप' भगवान् से मघवा नाम प्राप्त कर उग्रवंश के मुख्य राजा हुए। भगवान् ने इक्षुरस के संग्रह का उपदेश दिया था। इसलिए वे इच्छ्वाकुवंशी कहलाये। इस प्रकार भगवान् स्रष्टा, विधाता, ब्रह्मा आदि अनेक नामों से पुकारे जाने लगे।

अन्य मतावलम्बी ईश्वर को सारे जगत् की सृष्टि-रचना का कर्ता– बनाने वाला मानते हैं। अर्थात् वे कहते हैं कि भगवान् चेतन, अचेतन आदि सभी सृष्टि को पैदा करने वाले हैं किन्तु यह बात सर्वथा अघटित है। जैन सिद्धान्त में तो मात्र वृषभदेव को कर्मभूमि के प्रारंभ में आजीविका के साधन आदि क्रियाओं का उपदेशक और विदेहक्षेत्रवत् वर्ण व्यवस्था का व्यवस्थापक माना गया है किन्तु सृष्टि का कर्ता स्रष्टा नहीं।

दीक्षा कल्याणक

किसी एक समय हजारों राजाओं से सेवित भगवान् ऋषभदेव राज्य सिंहासन पर विराजमान थे। उस समय भगवान की सेवा के लिए इंद्र स्वयं ही अप्सराओं और बहुत से देवों के साथ उत्तम-उत्तम पूजन की सामग्री लेकर वहाँ आया। भक्ति में विभोर इंद्र ने भगवान् की आराधना करने की इच्छा से अप्सराओं का नृत्य कराना प्रारंभ किया। भगवान् राज्य से किस प्रकार विरक्त

होंगे' यह विचार कर इंद्र ने एक ऐसे पात्र को नियुक्त किया जिसकी आयु अत्यन्त क्षीण हो चुकी थी। वह सुन्दरी नीलांजना नाम की देवनर्तकी रस, भाव और लय सहित नृत्य कर रही थी कि इतने में ही 'आयुरूपी दीपक के क्षय हो जाने से वह अदृश्य हो गई।' उसके नष्ट होते ही इंद्र ने रस भंग के भय से उस स्थान पर उसी समान शरीर वाली दूसरी देवी खड़ी कर दी, जिससे नृत्य ज्यों का त्यों चलता रहा यद्यपि दूसरी देवी के खड़ी हो जाने पर वही मनोहर स्थान था और वही नृत्य का परिक्रम था, तथापि भगवान् ने उसी समय उसके स्वरूप का अन्तर जान लिया।

तदनंतर भोगों से विरक्त तथा अत्यन्त संवेग और वैराग्य भावना को प्राप्त हुए भगवान् मन में सोचने लगे–

बड़े आश्चर्य की बात है कि यह जगत् विनश्वर है, लक्ष्मी बिजली के समान चंचल है। यौवन, ऐश्वर्य, आरोग्य आदि सभी चलाचल है। इस जीव ने नरकों में महान् दुःख भोगे हैं। यदि उनका स्मरण भी हो जावे तो ऐसा कौन है कि जो इन भोगों की इच्छा करेगा? इत्यादि रूप में चतुर्गति के दुःखों का विचार करते हुए भगवान् ने यह विचार किया कि इंद्र ने जो यह नीलांजना का नृत्य कराया है, उस बुद्धिमान ने सोच-समझकर मेरे बोध के लिए ही ऐसा किया है। क्षणभंगुर रूप और यौवन धोखा देने वाला है। अतः इस रूप को धिक्कार! ऐसा विचार करते हुए भगवान् विशुद्धि को प्राप्त हो गये।

उसी समय इंद्र ने अवधिज्ञान से भगवान् के वैराग्य को जान लिया और उसी समय प्रभु के तप-कल्याण की पूजा के लिए लौकान्तिक ब्रह्मलोक से उतरे। ये लौकान्तिक देव देवों में उत्तमदेवर्षि कहलाते हैं। ये एक भवावतारी होते हैं और अतिशय विरक्तमना होने से भगवान् के दीक्षाकल्याणक में ही आते हैं। उन देवों ने प्रथम ही भगवान् के श्री चरणों में पुष्पांजलि अर्पण करके कल्पद्रुम के पुष्पों से चरणों की पूजा की और फिर अनेकों स्तोत्रों से प्रभु की स्तुति करते हुए उनके वैराग्य की प्रशंसा करने लगे। हे देव! आप स्वयं प्रबुद्ध हैं। धर्मरूपी हाथ का सहारा देकर हम लोगों का शीघ्र ही उद्धार कीजिए और इस युग की आदि में मोक्षमार्ग को प्रगट कीजिए। इस प्रकार सैकड़ों स्तुतियों से अपने लिए महान् पुण्य का संचय कर वे लौकांतिक देव स्व-स्थान को चले गये।

इतने में ही आसन के कम्पायमान होने से चारों निकायों के देव अपने-अपने इंद्रों के साथ तपकल्याणक का उत्सव मनाने के लिए आ गये और अयोध्यापुरी के चारों ओर से आकाश को घेर लिया। इंद्रों ने प्रभु का तपकल्याणक के लिए क्षीरसागर के जल से महाभिषेक किया। अनन्तर बड़े आदर से दिव्य आभूषण, वस्त्र, मालाओं से भगवान् का अलंकार किया। तदनन्तर भगवान् ने साम्राज्य पद पर भरत का अभिषेक कर इस भारतवर्ष को सनाथ किया और युवराज पद पर बाहुबलि को स्थापित किया। इन दोनों भाइयों से अधिष्ठित पृथ्वी राजवन्ती हो गई थी। मुमुक्षु भगवान् ने अपने शेष पुत्रों के लिए भी यह पृथ्वी विभक्त करके बाँट दी थी।

पश्चात् भगवान् महाराज नाभिराज आदि परिवार के लोगों से पूछ कर इंद्र द्वारा बनाई गई 'सुदर्शना' नामक पालकी पर बैठे। भगवान् की उस पालकी को प्रथम ही राजा लोग सात पैंड तक ले चले और फिर विद्याधर लोग आकाश से सात पैंड तक ले चले, अनन्तर वैमानिक और भवनत्रिक देवों ने हर्षित होकर वह पालकी अपने कन्धों पर रखी और अयोध्या नगरी से बाहर कुछ दूर ''सिद्धार्थक'' नामक वन में जा पहुँचे। वहाँ पर इंद्र ने पहले से ही चन्द्रकांत की शिला स्थापित कर दी थी और इंद्राणी ने उस पर रत्नों के चूर्ण से चौक पूरा था। उस शिला के ऊपर सुन्दर मंडल बना हुआ था।

भगवान् ने पालकी से उतर कर शिला पर बैठकर मनुष्यों, देवों की सभा को यथायोग्य उपदेश दिया। सब लोग कुछ देर बाद वापस चले गये। भगवान् ने अपने देवों की और सिद्धों की साक्षी पूर्वक बाह्य-आभ्यंतर परिग्रह, वस्त्रालंकार आदि का त्याग कर दिया। पूर्व दिशा की ओर मुँह करके पद्मासन से विराजमान भगवान् ने 'सिद्धं नमः' कहते हुए पंचमुष्टि से केशलोंच किया और समस्त पापारंभ से विरक्त होकर सामायिक चारित्र धारण कर लिया। वह दिन चैत्र कृष्ण नवमी का था। देवों ने भगवान् के पवित्र केशों को रत्न पिटारे में लेकर बड़े उत्सव से ले जाकर क्षीरसागर में विसर्जित किया था।

उसी समय चार हजार अन्य राजाओं ने भी दीक्षा धारण कर ली। वे भगवान् के अभिप्राय को न जानते हुए केवल भक्ति से प्रेरित हुए दीक्षित हो गये। 'जो हमारे स्वामी को रुचे, वही हमें करना चाहिए' बस, इतना मात्र

सोचकर वे सभी राजा द्रव्यलिंगी मुनि बन गए थे अर्थात् बाह्य से दिगम्बर वेश में थे और अन्तरंग से भावलिंगी नहीं थे। उस समय राजा भरत ने भी तमाम राजाओं के साथ आम, जामुन आदि उत्तम फलों से प्रभु के चरणों की पूजा की थी। भगवान् ऋषभदेव छह महीने का योग लेकर ध्यान में लीन हो गये थे।

इसी बीच में कच्छ, महाकच्छ के पुत्र नमि, विनमि नाम के दोनों ही राजा भक्तिपूर्वक भगवान् के चरणों में आ गये और कहने लगे कि – हे देव! आपने साम्राज्य त्याग करते समय यह साम्राज्य अपने पुत्र-पौत्रों के लिए बाँट दिया और हमें भुला ही दिया, अतः अब हमें भी कुछ भोग सामग्री दीजिए। ऐसा कहते हुए भगवान् के ध्यान में विघ्न करने लगे। उस समय उन दोनों की जो भगवान् के प्रति विशेष भक्ति थी, उसके निमित्त से धरणेंद्र का आसन कंपित होने से वह धरणेंद्र वहाँ आया और उसने इन दोनों को बहुत कुछ समझाया कि ये भगवान् अब सब कुछ छोड़ चुके हैं। तुम दोनों राजा भरत की उपासना करो किन्तु वे लोग धरणेन्द्र की एक भी नहीं माने। वे बोले कि हम लोग भगवान् के सिवाय अन्य किसी से कुछ नहीं चाहते हैं।

तब धरणेन्द्र भगवान् के ध्यान के विघ्न निवारण हेतु उन दोनों की भक्ति से प्रसन्न होता हुआ बोला कि मैं भगवान् का किंकर हूँ, भगवान् ने मुझे बुलाकर तुम्हें इच्छित भोग सामग्री देने की आज्ञा दी है। अतः तुम दोनों मेरे साथ चलो। प्रभु की आज्ञानुसार ही मैं तुम्हें ले चलता हूँ। ऐसा कहकर वह धरणेन्द्र उन दोनों को विजयार्ध पर्वत पर ले गया, और वहाँ के 'रथनूपुर चक्रवाल' नगर में प्रवेश कर धरणेन्द्र ने उन दोनों को सिंहासन पर बैठाकर विद्याधरों से कहा कि 'ये तुम्हारे स्वामी हैं,' ऐसा कहकर उनका राज्याभिषेक कर दिया। अनन्तर 'नमि' को दक्षिण श्रेणी और 'विनमि' को उत्तर श्रेणी का अधिपति प्रसिद्ध कर दिया। धरणेन्द्र ने बतलाया कि भगवान् ऋषभदेव ने अपनी सम्मति से इन दोनों को यहाँ भेजा है। ऐसा सुनकर सभी विद्याधर मस्तक झुकाकर उनकी आज्ञा धारण करने लगे। वह धरणेन्द्र उन दोनों को गांधारपदा और पत्रगपदा नाम की विद्यायें देकर स्व-स्थान में चला गया। यद्यपि ये लोग विद्याधर नहीं थे तो भी वहाँ पर अनेकों विद्याओं को सिद्ध कर लिया था। आचार्य कहते हैं कि देखो! कहाँ ये नमि-विनमि भूमिगोचरी थे,

और कहाँ तो विद्याधरों के इंद्र बन गये? अतः जिनेन्द्र भक्ति का प्रभाव अचिंत्य है।

विजयार्ध पर्वत पर चतुर्थ काल की आदि से अंत तक ही परिवर्तन होता है, पुनः अंत से आदि तक हुआ करता है। मनुष्यों की आयु उत्कृष्ट एक कोटि पूर्व और जघन्य आयु सौ वर्ष की होती है तथा शरीर की उत्कृष्ट ऊँचाई पाँच सौ धनुष और जघन्य सात हाथ की रहती है। यहाँ पर षट् ऋतुओं का परिवर्तन और असि, मषि आदि क्रियायें रहती हैं। सभी लोग अनेकों विद्याओं के प्रभाव से आकाश में गमन करते हुए अकृत्रिम जिनप्रतिमाओं की पूजा किया करते हैं। ये लोग तमाम विद्यायें-उपवास आदि विधि से सिद्ध करते हैं और तमाम विद्यायें स्वयं सिद्ध जाति और कुल से मिला करती हैं। सचमुच में भगवान् ऋषभदेव की भक्ति के प्रसाद से इन्हें यह वैभव मिला था।

पाखंड मत की उत्पत्ति

भावमिथ्यात्व तो अनादिकाल से इस पृथ्वी पर सर्वत्र चला ही आ रहा है। हाँ, द्रव्यमिथ्यात्व विदेह क्षेत्र में या विजयार्ध पर्वतों की श्रेणी में या भोगभूमियों में नहीं है। यहाँ यह कब से हुआ सो कहते हैं –

भगवान् ऋषभदेव अपनी लम्बी-लम्बी भुजाओं को लटका कर और नासा के अग्रभाग पर दृष्टि टिकाकर ध्यानस्थ खड़े थे। भगवान् को दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त में मनः पर्ययज्ञान भी प्रकट हो गया था। भगवान् के साथ इधर कच्छ, महाकच्छ आदि राजाओं ने भी बिना समझे बूझे दीक्षा ले ली थी। दीक्षा लिए दो-तीन माह भी नहीं हुए कि इन साधुओं का धैर्य भग्न हो गया। भूख, प्यास से पीड़ित हुए ये लोग बार-बार प्रभु की ओर देखते रहे और आश्चर्य करते थे। परस्पर में अनेक प्रकार की वार्ता करते हुए वे लोग वापस जाने से भी डरते थे कि भरत महाराज हमें क्या कहेंगे कि भगवान् को अकेले छोड़कर तुम लोग कैसे चले आये? वे सब भगवान् को चारों ओर से घेरे हुए थे। कितने ही भगवान् से पूछकर, कितने ही बिना पूछे प्रभु की प्रदक्षिणा करके उन्हें नमस्कार कर वन में यत्र-तत्र घूमने लगे और प्राण यात्रा के लिए वे लोग स्वयं ही तालाब का पानी पीने लगे तथा वन के फलादि खाने लगे।

इन दिगम्बर वेषधारी लोगों को अपने ही हाथों फल तोड़ते और पानी पीते

देखकर वनदेवताओं ने उन्हें ऐसा करने से मना किया और कहा कि ऐसा मत करो। 'हे मूर्खों! यह दिगम्बर वेष सर्वश्रेष्ठ है। तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती आदि के द्वारा धारण करने योग्य है, महान् है, तुम लोग इसे कायरता का स्थान मत बनाओ।' वनदेवता के वचन सुनकर वे लोग उस वेष में वैसा करने से डर गये इसलिए उन दीन, भ्रष्ट तपस्वियों ने नीचे लिखे अनेकों वेष बना लिए।

कितने ही लोग वृक्षों की छाल पहनकर फल खाने लगे, कितने ही जीर्ण-शीर्ण लंगोटी पहनकर स्वेच्छाचारी बन गये, कितने ही भस्म लपेटकर जटाधारी बन गये। ये सभी भ्रष्ट साधु वृक्षों की छालरूप वस्त्र, स्वच्छ जल और कंदमूल से बहुत समय तक अपना निर्वाह करते रहे। यद्यपि इनका घर संबंधी मोह नहीं छूटा था, फिर भी वे भरत के डर से अपने-अपने घरों में नहीं गये थे और वहीं पर झोंपड़ी बनाकर रहने लगे थे। उनमें से कितने ही साधु परिव्राजक बन गये थे। उनमे ऋषभदेव का पोता, भरत का पुत्र मरीचि कुमार भी परिव्राजक होकर योगशास्त्र और सांख्य शास्त्र का प्रवर्तक बन गया। ये लोग जल और फूलों से भगवान् के चरणों की पूजा करते थे, स्वयंभू ऋषभदेव को छोड़कर इनका अन्य कोई देवता नहीं था।

भगवान् ऋषभदेव का प्रथम आहार

अनन्तर जगदगुरु भगवान् के ध्यान के छह महीने पूर्ण हो गये, तब वे मुनियों की चर्या की विधि बतलाने के लिए आहारार्थ निकले। वे सोचने लगे कि बड़े दुःख की बात है कि ये उत्तम वंशों में उत्पन्न हुए राजा लोग भूख-प्यास की बाधा से भ्रष्ट हो गये। प्रभु विचार करते हैं कि न तो इस शरीर का अति पोषण ही करना चाहिए और न इसे अत्यर्थ सुखाना चाहिए किन्तु मध्यम प्रवृत्ति का आश्रय लेकर इस शरीर से मोक्ष की सिद्धि करना चाहिए। यद्यपि भगवान् को आहार की आवश्यकता नहीं थी फिर भी मोक्षमार्ग को प्रगट करने के लिए पृथ्वी तल पर विहार किया।

उस समय लोग दिगम्बर मुनियों के आहार की विधि को नहीं जानते थे, अतः कोई-कोई भगवान् के सम्मुख आकर उन्हें प्रणाम करते और उनके पीछे-पीछे चलने लगते, कोई बहुमूल्य रत्न लाकर भगवान् के सामने रखते और

ग्रहण करने की प्रार्थना करते, कोई स्नान सामग्री और भोजन लेकर आकर प्रार्थना करते कि हे देव! प्रसन्न होइये और स्नान करके भोजन कीजिए, कोई हाथी-घोड़ा पालकी आदि वाहन लेकर आते और भेंट करते, कोई सपरिवार आकर प्रभु के चरणों से लिपट जाते और प्रार्थना करते। भगवान् की चर्या में उस समय क्षणभर को विघ्न आ जाता और जब वे हटते तब प्रभु पुनः आगे विहार कर जाते। कितने ही लोग रूप यौवन सम्पन्न कन्याओं को लाते और कहते कि प्रभो! आप इन्हें ग्रहण कीजिए। आचार्य कहते हैं कि इन लोगों की मूर्खता को धिक्कार हो, जो ऐसी-ऐसी चेष्टा कर रहे थे। इस प्रकार जगत् में आश्चर्यकारी गूढ़चर्या से भ्रमण करते हुए भगवान् के छह मास और व्यतीत हो गये।

अनंतर भगवान् ऋषभदेव हस्तिनापुर पधारे, उस समय वहाँ के राजा सोमप्रभ कुरुवंश के शिखामणि थे और उनका भाई श्रेयांस कुमार था। श्रेयांस कुमार ने उसी रात्रि में सुमेरु पर्वत, कल्पवृक्ष, सिंह, बैल, सूर्य चंद्र, समुद्र और व्यंतर देवों की मूर्तियाँ ऐसे सात स्वप्न देखे थे। पुरोहित ने भी बतायाथा कि आज आपके घर में जिनका मेरु पर अभिषेक हुआ है, ऐसे कोई देव आयेंग उसी समय नगर में भगवान् के दर्शनों से बहुत ही बड़ा कोलाहल हुआ।

सिद्धार्थ द्वारपाल से प्रभु का आगमन सुनते ही दोनों भाई उठ खड़े हुए और बाहर आये। भगवान् को देखते ही गद्गद् हो उन्हें नमस्कार करके प्रदक्षिणा दी। तत्क्षण ही राजा श्रेयांस को पूर्व भव का स्मरण आते ही आहार दान की विधि याद आ गई। जब वज्रजंघ और श्रीमती ने वन में चारण मुनि को आहार दान दिया था, उस समय का दृश्य ज्यों का त्यों उपस्थित हो गया। राजा वज्रजंघ ही भगवान् आदिनाथ हुए और श्रीमती का जीव श्रेयांस कुमार हुआ। बस श्रेयांस कुमार ने सोमप्रभ और उनकी रानी लक्ष्मीमती के साथ बड़ी ही भक्ति से प्रभु को पड़गाहन करके नवधा भक्तिपूर्वक उनके हाथों की अंजुली में शुद्ध प्रासुक इक्षुरस का आहार दिया। उसी समय आकाश में देवों का समुदाय उमड़ पड़ा। रत्नों की वर्षा, पुष्पों की वर्षा, मंद सुगंधित वायु, दुंदुभि बाजे और जय-जयकार के नाद से आकाश तथा भूमंडल व्याप्त हो गया। उस समय दोनों भाइयों ने अपने आपको कृतकृत्य माना। जहाँ स्वयं तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान् आहार लेने वाले हैं और श्रेयांस कुमार जैसे

पुण्यशाली देने वाले हैं देवों के पंचाश्चर्य हो रहे हैं, उस समय के आहार दान के महत्व का क्या वर्णन किया जा सकता है?

भगवान् आहार के अनन्तर वन को विहार कर गये, कुछ दूर राजा सोमप्रभ, श्रेयांस कुमार भी उनके पीछे-पीछे गये पुनः वापस आ गये। उस दिन राजा के यहाँ भोजन अक्षय हो गया था, चाहे चक्रवर्ती का कटक भी जीम ले तो भी उसका क्षय नहीं हो सकता था और वह दिन वैशाख सुदी तृतीया का था इसलिए 'अक्षय तृतीया' उसका यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हो गया जो कि आज तक भी सर्वत्र प्रसिद्ध है। उस समय राजा श्रेयांस दानतीर्थ के प्रवर्तक कहलाये थे।

देवों ने भी आश्चर्य के साथ श्रेयांस कुमार की बड़ी भारी पूजा की तथा भरतचक्री ने आकर पूछा की हे कुरुवंश शिरोमणि! तुमने यह विधि कैसे जानी? तब श्रेयांस कुमार ने ऋषभदेव के आठवें भव पूर्व के वज्रजंघ और श्रीमती द्वारा दिये गये दान की सारी कथा कह सुनाई। सुनकर चक्रवर्ती भरत ने भी परमप्रीति को प्राप्त होकर राजा सोमप्रभ और श्रेयांस कुमार का खूब सम्मान किया तथा ऋषभदेव के गुणों का चिंतवन करते हुए अपने घर वापस आ गये।

आदिनाथ भगवान् के समय से ही और उनके पौत्र मरीचि से ही मुख्य होकर ये पाखंड मत चलाये। पीछे वह मरीचि कुमार तीर्थंकर महावीर होकर मुक्ति को प्राप्त हो गये किन्तु मरीचि कुमार द्वारा प्रतिपादित मत का प्रभाव अब भी बढ़ता ही जा रहा है यही आश्चर्य की बात है।

जो परंपरा एक बार चल जाती है वह जड़-मूल से नष्ट नहीं हो पाती है। फिर तो आज कलिकाल के प्रभाव से यह मिथ्यामत वृद्धिंगत ही हो रहा है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य तो इस बात का है कि जो आज ऐसे निकृष्ट काल में भी मुनिमार्ग का अवलंबन लेने वाले दिगम्बर जैन साधु और सच्चे सम्यग्दृष्टि श्रावक दिख रहे हैं इसलिए वस्तुस्थिति में आश्चर्य न करके अपनी आत्मा का जल्दी से जल्दी कल्याण कर लेना चाहिए। अपने सम्यक्त्व को बाह्य चकाचौंध से मलिन नहीं करना चाहिए।

भगवान् का समवसरण

तीर्थंकर भगवान् दीक्षा लेने के बाद केवलज्ञान प्रगट होने तक मौन पूर्वक ही विहार करते हैं। अनंतर केवलज्ञान के बाद उनका समवसरण बनता है। उसमें गोलसभा होती है और बिना इच्छा के ही भगवान् का दिव्य उपदेश होता है।

भगवान् ऋषभदेव दीक्षा के अनंतर एक हजार वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहे, अनंतर एक दिन पुरिमताल नाम के नगर के बाहर 'शकट' नाम के उद्यान में पहुँचे, वहाँ ध्यान की सिद्धि के लिए वटवृक्ष के नीचे एक शिला पर विराजमान हो गये। फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में भगवान् ने मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया, उसी समय प्रभु को केवलज्ञान प्रकट हो गया, स्वर्गों में होने वाले चिन्हों से देवेन्द्रों ने प्रभु के ज्ञान की सिद्धि को जानकर तत्क्षण आकर केवलज्ञान महोत्सव मनाया और समवसरण की रचना कर दी।

भगवान् ऋषभदेव का समवसरण बारह योजन विस्तृत इंद्रनीलमणि से निर्मित था। उसके बाहरी भाग में रत्नों की धूली से बना हुआ 'धूलीसालकोट' था। वह इंद्रधनुष के सदृश वर्णवाला, चारों ओर से परकोटे के समान सुन्दर था। इसके बाहर चारों दिशाओं में सुवर्णमय खंभों वाले, चार दिशा में चार तोरण द्वार थे। उस धूलीसाल के भीतर चारों दिशाओं में ऊँचे-ऊँचे चार मानस्तंभ थे, जो कि मिथ्यादृष्टियों का मान शीघ्र ही नष्ट कर देते थे। मानस्तंभ के समीपवर्ती भूभाग को अलंकृत करती हुई मानस्तंभ के चारों तरफ चार-चार बावड़ियाँ थीं, वे मणिमयी सीढ़ियों से युक्त, स्वच्छ जल से भरी हुई थीं। उनके किनारों पर पाँव धोने के लिए कुँड बने हुए थे। उन बावड़ियों से आगे कमलों से व्याप्त, जल से भरी और चारों तरफ से घेरे हुए एक 'परिखा' थी। उस परिखा के भीतर भाग को एक 'लतावन' घेरे हुए था, जो कि फूले हुए फूलों से उज्जवल हास्य बिखेर रहा था। उस लतावन के अनंतर सुवर्णमय को चारों ओर से घेरे हुए था। उसमें चारों दिशाओं में चार गोपुर द्वार थे। प्रत्येक द्वार पर मंगल द्रव्य एक सौ आठ और सौ-सौ तोरण थे। दरवाजे के बाहर नवनिधियाँ रखी हुई थीं। दरवाजे के दोनों बाजू में दो नाट्यशाला थीं। बहुत से धूपधट में रखे हुए थे। कुछ दूर आगे बढ़कर अशोक, सप्तच्छद, चंपक

और आम्र के चार वन थे। अशोकवन में अशोक नाम का चैत्य वृक्ष था जिसमें जिनप्रतिमाएं विराजमान थीं, ऐसी ही सप्तच्छद्, चंपक और आम्र के भी चैत्य वृक्ष थे, ये चैत्य वृक्ष जिनप्रतिमा सहित थे और बहुत ही ऊँचे थे। उन वनों के चारों ओर एक वनवेदी थीं, जो सुवर्णमयी थी।

सिद्धार्थवृक्ष, चैत्यवृक्ष, कोट वनवेदिका, स्तूप, तोरण सहित मानस्तंभ और ध्वजस्तंभ ये सब तीर्थंकरों की ऊँचाई से बारह गुने होते हैं। उपर्युक्त वनवेदिका से आगे सुवर्णमय खंभों के अग्र भाग पर लटकती हुई अनेक प्रकार की ध्वजों की पंक्तियाँ शोभित हो रही थीं। इनमें माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, बैल, हाथी और चक्र ये चिन्ह थे। एक-एक दिशा में वे सब ध्वजाएं एक हजार अस्सी थीं और चारों दिशाओं में चार हजार तीन सौ बीस थीं।

उन ध्वजाओं के भीतर के भाग में चाँदी से निर्मित एक कोट था जो द्वितीय होकर भी अद्वितीय था। प्रथम कोट के सदृश इसके गोपुर द्वारों में नव निधियाँ, धूपपट, नाट्यशालाएं थीं। धूपघटों के बाद गलियों के बीच के अंतराल में कल्पवृक्षों का वन था। इसमें दश प्रकार के कल्पवृक्ष तीन लोक के जनों के लिए इच्छित फलदायी वैभव स्वरूप थे। उन कल्पवृक्षों की व वन वीथी को भीतर की ओर चारों तरफ से स्वर्णमय वनवेदिका घेरे हुए थी। इनके गोपुर द्वारों में तोरण, मंगलद्रव्य आदि सम्पदायें इकट्ठी थीं। इनके आगे भीतर की ओर देव कारीगरों से निर्मित मकानों की पंक्तियाँ थीं। इनमें चतुर्निकाय देवगण संगीत, नृत्य आदि से भगवान् की आराधना कर रहे थे।

महावीथियों के मध्य भाग में नौ-नौ स्तूप खड़े थे, जो कि पद्मरागमणि से निर्मित थे। उन स्तूपों पर छत्रादि सहित जिनप्रतिमाएं विराजमान थीं, भव्य लोग उनका अभिषेक, पूजा स्तुति आदि करते रहते थे। उन स्तूपों और मकानों की पंक्तियों से घिरी हुई भूमि से आगे आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक मणि का बना कोट था, जो कि तृतीय कोट कहलाता था। इसके गोपुर द्वारों पर मंगल द्रव्य, नवनिधियाँ आदि विद्यमान थीं। स्फटिक कोट से पीठ पर्यंत लम्बी दीवारें थीं। ये दीवारें बारह सभाओं का विभाग करती थीं। उन दीवारों पर रत्नमय खंभों से खड़ा हुआ, आकाश स्फटिक मणि से निर्मित, बहुत बड़ा 'श्रीमंडप' था, इस मंडप में तीनों लोकों की लक्ष्मी शोभित थी। तीनों लोकों के

समस्त जीवों को स्थान देने में समर्थ होने से आकाश के सदृश था। यह एक योजन विस्तृत था। फिर भी भगवान् के अतिशय के प्रभाव से इसमें असंख्यात् सुर-असुर और संख्यात् मनुष्य तथा तिर्यंच बिना बाधा के बैठे हुए थे।

उस श्रीमंडप को घेरे हुए मध्य भाग में पीठिका है उसमें तीन कटनी है। पहली कटनी पर आठ मंगल द्रव्य और यक्षों के ऊँचे-ऊँचे मस्तकों पर रखे हुए हजारों आरों वाले धर्मचक्र सुशोभित हो रहे थे। दूसरी कटनी पर ध्वजाएं थीं, उसके ऊपर तीसरी कटनी रत्नों से निर्मित सुशोभित हो रही थी। उन तीन कटनी सहित पीठ पर जिनेन्द्रदेव विराजमान थे।

समवसरण का प्रमाण – स्फटिक निर्मित तृतीय कोट के भीतर का विस्तार एक योजन था, लतावन, अशोकादिवन, कल्पवृक्षवन और ध्वजाभूमि, इनका विस्तार भी एक योजन प्रमाण था और परिखा भी धूलि से एक योजन चलकर थी। आकाश स्फटिक मणियों से बने हुए कोट से कल्पवृक्षों के वन की वेदिका आधा योजन दूर थी और उसी साल से प्रथम पीठ चौथाई योजन दूर था। गोपुर द्वारों के सामने के बड़े-बड़े रास्ते एक-एक कोस चौड़े थे। भगवान् के सिंहासन और धर्म-चक्र की ऊँचाई एक धनुष प्रमाण थी।

गंधकुटी – तीन कटनियों से चिन्हित पीठ पर सुन्दर गन्धकुटी बनी हुई थी। वह गंधकुटी छह सौ धनुष चौड़ी, उतनी ही लम्बी और उससे कुछ अधिक ऊँची थी। उसके मध्य में एक सिंहासन था, जो कि कुबेर द्वारा निर्मित रत्नजटित था। उस सिंहासन पर चार अँगुल ऊँचे अधर श्री ऋषभदेव भगवान् विराजमान थे। भगवान् के समीप एक सुन्दर अशोक वृक्ष था, जो कि मरकत मणियों से बना हुआ था। प्रभु के ऊपर तीन छत्र ढुर रहे थे, दोनों तरफ यक्षगण चौंसठ चमर ढोर रहे थे। आकाश में देव दुंदुभि बाजे बजा रहे थे, भगवान् के शरीर की प्रभा करोड़ों सूर्यों की प्रभा को तिरस्कृत कर फैल रही थी और उस प्रभामंडल में भव्य जीव अपने-अपने सात-सात भव स्पष्ट देख लेते थे, भगवान् के मुखरूपी कमल से सर्वभाषामय दिव्य ध्वनि प्रगट हो रही थी और आकाश से पुष्प वृष्टि हो रही थी जिसकी सुगंधि चारों ओर फैल रही थी। इस प्रकार भगवान् के ये आठ प्रातिहार्य भगवान् की आर्हत्य विभूति को प्रगट करते हुए सर्वोत्तम थे।

संक्षेप में समवसरण की रचना

सबसे पहली धूली साल, उसके बाद चारों दिशाओं में चार मानस्तंभ, मानस्तंभों के चारों ओर सरोवर, फिर निर्मल जल से भरी हुई परिखा, फिर पुष्पवाटिका, उसके आगे पहला कोट, उसके आगे दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाएं, उसके आगे अशोकादि के वन, उसके बाद वेदिका, फिर ध्वजाओं की पंक्तियाँ, फिर दूसरा कोट, फिर वेदिका सहित कल्पवृक्षों का वन, उसके बाद स्तूप, फिर मकानों की पंक्तियाँ, फिर स्फटिक मणिमय तीसरा कोट, उसके भीतर बारह सभायें हैं। अनंतर पीठिका है और पीठिका के अग्रभाग पर स्वयंभू जिनेन्द्र देव विराजमान हैं। अर्हंत देव स्वभाव से पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुँह करके समवसरण में रहते हैं।

उनके चारों ओर प्रदक्षिणा के क्रम से ऋद्धियों के ईश्वर गणधर और मुनिगण, कल्पवासिनी देवियाँ, आर्यिकायें और श्राविकाएं, भवनवासिनी देवियाँ, व्यन्तरिणी देवियाँ, ज्योतिषी देवियाँ, भवनवासी देव, व्यंतर देव, ज्योतिष देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और पशु इन बारह गणों के बैठने योग्य बारह सभायें हैं।

जिनेन्द्र भगवान् अनंत दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य इन अनंत चतुष्टय रूप अंतरंग लक्ष्मी और बाह्य समवसरण लक्ष्मी के स्वामी हैं। यद्यपि भगवान् का एक तरफ मुख है और फिर भी अतिशय विशेष से चारों तरफ मुख दिखने से सभी बारह सभा वाले अपनी-अपनी तरफ मुख देखते रहते हैं। इसलिए भगवान् की सभा गोल है।

किसी समय भरत राजर्षि को एक साथ तीन समाचार प्राप्त हुए। पूज्य पिता को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। अन्तःपुर में पुत्र का जन्म हुआ है और आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न – प्रगट हुआ है। समाचार सुनते ही राजा भरत ने एक क्षण के लिए सोचा कि पहले किसका उत्सव मनायें? अनंतर उन्होंने सोचा कि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों के फल ये तीन समाचार हैं। अर्थ और काम की सिद्धि में धर्म ही मूल है, अतः सबसे प्रथम भगवान् ऋषभदेव का दर्शन करना चाहिए।

अनंतर भरत अपने छोटे भाई, अन्तःपुर की स्त्रियाँ और नगर के मुख्य-

मुख्य लोगों के साथ समवसरण में पहुँचें। भगवान् की प्रदक्षिणा देकर उत्कृष्ट सामग्री से पूजा की, दोनों घुटने पृथ्वी पर टेककर बार-बार नमस्कार किया। अनेकों स्तोत्रों से प्रभु की स्तुति की। पुनः श्रीमण्डप में प्रवेश करके यथायोग्य स्थान पर बैठ गये। उस समय वह सभा देवों, मनुष्यों से खचाखच भरी हुई थी। भरत ने अत्यन्त विनय से हाथ जोड़कर प्रभु से प्रार्थना की हे भगवन्! तत्वों का विस्तार कैसा है? मार्ग कैसा है? और उसका फल भी कैसा है? हे देव! मैं आपसे यह सब सुनना चाहता हूँ। भरत का प्रश्न समाप्त होने पर भगवान् ऋषभदेव की दिव्यध्वनि खिरी, उस समय भगवान् के मुख पर कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ओष्ठ, तालु आदि स्थान नहीं हिले, जिसमें सब अक्षर स्पष्ट हैं ऐसी वाणी बिना इच्छा के भव्यों के पुण्य से प्रकट हो रही थी। वह दिव्य ध्वनि अठारह मुख्य भाषाओं में और सात सौ लघु भाषाओं में ऐसे सात सौ अठारह भाषाओं में अथवा संख्यात भाषाओं में होती थी भगवान् कहने लगे कि जीव-अजीवादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप ही तत्व है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्षमार्ग है और इस मार्ग का फल मोक्ष है। इत्यादि रूप से विस्तार से धर्म के स्वरूप का विवेचन हुआ।

प्रथम गणधर– उसी समय उसी पुरिमताल नगर के स्वामी भरत के छोटे भाई 'वृषभसेन' वहाँ पूज्य पिता के दर्शनार्थ आये और प्रभु से संबोध को प्राप्त कर दीक्षा लेकर भगवान् के प्रथम गणधर हो गये और तत्काल ही मनःपर्ययज्ञान तथा सप्त ऋद्धियों से विभूषित हो गये। उसी समय कुरुवंश शिरोमणि हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ और श्रेयांस कुमार तथा अन्य राजा भी भगवान् से दीक्षा लेकर गणधर हो गये तथा अन्य अनेकों राजाओं ने मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली। भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुदेव की कृपा से दीक्षित होकर आर्यिकाओं के बीच गणिनी हो गई। बाहुबलि की छोटी बहन सुन्दरी ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली तथा अनेक राजकन्याओं ने भी आर्यिका दीक्षा लेकर स्त्रीपर्याय से मुक्त होकर मोक्ष जाने का उद्यम किया था। श्रुतकीर्ति नामक किसी बुद्धिमान ने श्रावक व्रत ग्रहण कर लिए और वह देशव्रतियों में श्रेष्ठ हो गया। प्रियव्रता नामक एक सती श्राविका ने श्राविका के व्रत धारण कर श्राविकाओं में उत्तम स्थान ग्रहण किया। ऐसे ही अनेकों भव्य

जीवों ने व्रतों से अपनी आत्मा को अलंकृत किया था।

भरत के छोटे भाई अनंतवीर्य ने भी प्रभु से जैनेश्वरी दीक्षा ले ली, ये सबसे पहले मोक्ष गये हैं। जो चार हजार राजा ऋषभदेव की दीक्षा के समय दीक्षित होकर भ्रष्ट हो गये थे, उनमें से मरीचि को छोड़कर बाकी सभी तपस्वी भगवान् के समीप संबोध पाकर फिर से दीक्षित होकर तपस्या करने लगे।

भरत चक्रवर्ती अपने भाई बाहुबलि आदि के साथ समवसरण से वापस अयोध्या आ गये। चक्ररत्न की पूजा करके पुत्र का जन्मोत्सव मनाकर उन्होंने षट्खंड को जीतने के लिए प्रस्थान कर दिया।

भगवान् का श्रीविहार –अनन्तर इंद्र ने भगवान् की एक हजार आठ नामों से स्तुति करते हुए प्रार्थना की कि हे भगवन् ! चिरकाल से भव्य जीवरूपी धान्य पापरूपी अनावृष्टि से सूख रहे हैं, सो हे विभो! उन्हें धर्मरूपी अमृत से सींचकर उनके लिए आप ही शरण होइये। अब आपका यह समीचीन मोक्षमार्ग के उपदेश देने का समय प्राप्त हुआ है। उस समय भगवान् का स्वभाव से ही विहार होने वाला था, अतः इंद्र की प्रार्थना सफल हो गई। प्रभु के श्रीविहार का वर्णन बड़ा ही रोमांचकारी है। उस समय करोड़ों देव इधर-उधर चलने लगे। जय-जयकार के शब्द से और दुन्दुभि बाजों के गंभीर नाद से आकाश व्याप्त हो गया, पृथ्वी दर्पणवत् स्वच्छ हो गई, मंद सुंगन्ध वायु बहने लगी, पवन कुमार जाति के देवों ने भूमि को कंकड़-पत्थर धूलि से रहित कर दिया, मेघकुमार ने सुगन्धित जलवृष्टि करके मार्ग को सुन्दर बना दिया, शालि आदि खेती सर्वत्र हरी-भरी हो गई। श्रीविहार में धर्मचक्र आगे-आगे चल रहा था, मंगल द्रव्य तथा फहराती हुई ध्वजाओं से आकाश मंडल व्याप्त था, सभी षट्ऋतु के फल-फूल फलित हो रहे थे, भगवान् के महात्म्य से चार सौ कोश तक पृथ्वी पर सुभिक्ष था, विहार के समय देवगण प्रभु के चरणों के नीचे स्वर्णमय कमलों की रचना करते रहते थे, वे कमल आगे-पीछे के सभी मिलकर 225 हो जाते हैं, सुवर्ण कमल पर पैर रखने वाले प्रभु ने जहाँ-जहाँ विहार किया, वहाँ-वहाँ के भव्यों ने धर्मामृतरूपी जल की वर्षा से परम संतोष धारण किया था। भगवान् ने काशी, अवन्ति, कुरु, कौशल, सुह्म, पुण्ड्र, चेदि, अंग, वग, मगध, आंध्र, कलिंग, मंद्र, पंचाल, मालव, दशार्ण और

विदर्भ आदि देशों में विहार किया था। अनन्तर कैलाश पर्वत पर पहुँच गये। वहाँ समवसरण में सभा मण्डप में विराजमान हैं।

चक्रवर्ती भरत जब दिग्विजय करके वापस आये तब उनका चक्ररत्न अयोध्या नगरी के बाहर ही रुक गया। अभी विजय बाकी है ऐसा समझकर चक्रवर्ती ने अपने निन्यानवे भाइयों के पास दूत भेजा। वे भाई भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में जाकर दीक्षित हो मुनि बन गए। अनन्तर बाहुबलि के पास दूत भेजने से बाहुबलि नमस्कार के लिए तैयार नही हुए, प्रत्युत युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गये। मंत्रियों की प्रार्थना से दोनों भाइयों में दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध हुआ, इन तीनों में बाहुबली की विजय देख भरत ने चक्ररत्न उन पर चला दिया, किन्तु चक्र उनकी प्रदक्षिणा देकर निस्तेज हो गया। इस घटना से बाहुबली विरक्त हो दीक्षित होकर एक वर्ष का उपवास और योग लेकर वन में निश्चल खड़े हो गये। उनके ऊपर लतायें चढ़ गईं, सर्पों ने वामियाँ बना ली थीं। एक वर्ष बाद भरत ने आकर पूजा की और बाहुबलि को केवलज्ञान प्रगट हो गया।

वंदनमाला –भरत चक्रवर्ती भगवान् के समवसरण में जाकर निरन्तर शलाका पुरुषों का चरित सुनते रहते थे। उन्होंने चौबीस तीर्थंकरों की वंदना के लिए रत्न निर्मित घंटियों से सहित चौबीस वंदनमालाएं बँधवाई थीं। जिनका निकलते समय सिर से स्पर्श होता था, तब उन घंटियों की आवाज से वे चक्रवर्ती तीर्थंकरों का स्मरण कर उन्हें परोक्ष नमस्कार किया करते थे।

चक्रवर्ती के पुत्रों का मोक्ष गमन –किसी समय चक्रवर्ती के विवर्धन आदि नौ सौ तेइस राजकुमार भगवान् के समवसरण में प्रविष्ट हुए। उन्होंने पहले कभी तीर्थंकर के दर्शन नहीं किए थे, वे अनादि मिथ्यादृष्टि थे और अनादिकाल से ही स्थावरकायों में जन्म-मरण पर क्लेश को प्राप्त हुए थे। भगवान् की लक्ष्मी को देखकर वे परम आश्चर्य को प्राप्त हुए और अन्तर्मुहूर्त में ही उन्होंने संयम ग्रहण कर लिया। वे सब उसी भव से मोक्ष चले गये हैं। अहो! कितने आश्चर्य की बात है कि जिन्होंने मनुष्य भव क्या त्रस पर्याय ही पहली बार पाई थी, वे भगवान् के निमित्त से उसी भव से मोक्ष चले गये। यह है समवसरण में जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन का माहात्म्य।

स्वयंवर प्रथा –भरत महाराज के साम्राज्य में ही सर्वप्रथम स्वयंवर प्रथा का प्रारंभ हुआ। बनारस के राजा अकंपन की पुत्री सुलोचना ने स्वयंवर में हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ के पुत्र मेघेश्वर जयकुमार को वरा था। महाराजा अकंपन ने भी एक हजार पुत्रों के साथ भगवान् से दीक्षा ले ली थी। जयकुमार ने भी राज्य सुखों को भोगने के बाद दीक्षा ले ली और भगवान् के इकहत्तरवें गणधर हो गये। सुलोचना भी आर्यिका दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों की पाठिका बन गई थी। इस प्रकार अनेकों भूमिगोचरी तथा विद्याधरों ने भगवान् के समवसरण में दीक्षा लेकर अपनी आत्मा का कल्याण किया था।[1]

ब्राह्मण वर्ण की व्यवस्था

भरत सम्राट सम्पूर्ण भारतवर्ष को जीतकर अयोध्या को अपनी राजधानी बनाकर सुखपूर्वक प्रजा का पालन कर रहे थे कि एक दिन सम्पत्ति का दान देने के लिए मन मे विचार किया और अणुव्रती गृहस्थों की परीक्षा के लिए एक उपाय सोचा। राजराजेश्वर भरत ने अपने यहाँ समस्त राजाओं को बुलाया, इधर-उधर के आँगन में सब तरफ हरे-हरे अँकुर फल और फूल खूब भरवा दिये। उन लोगों में अव्रती लोग तो बिना सोचे-विचारे अन्दर घुस आये, परन्तु बड़े-बड़े कुलों में उत्पन्न अपने व्रतों की रक्षा की इच्छा रखने वाले नहीं आये। तब राजा ने उन्हें दूसरे प्रासुक मार्ग से बुलाया। राजा भरत ने व्रतों में दृढ़ रहने वाले उन लोगों का दान, मान आदि से सत्कार किया। भरत ने उन्हें उपासकाध्ययन से इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप का उपदेश दिया था। जो एक बार गर्भ से और दूसरी बार क्रिया से इस प्रकार दो बार उत्पन्न हुआ हो उसे द्विजन्मा-द्विज या ब्राह्मण कहते हैं। ऐसे चक्रवर्ती ने इस ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति की। राजा ने इन ब्राह्मणों को तीन प्रकार की क्रियाओं के करने का उपदेश दिया। गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और कर्त्रन्वय क्रिया। इनमें गर्भान्वय क्रिया के त्रेपन भेद हैं, दीक्षान्वय के अड़तालीस और कर्त्रन्वय के सात भेद माने गये हैं।

---

१. जिस मार्ग में भगवान् का विहार होता था वह मार्ग अपने चिन्हों से एक वर्ष तक यह प्रगट करता रहता था कि यहाँ भगवान् का विहार हुआ है। (हरिवंशपुराण, पृ. ७०३)

भरत चक्रवर्ती के सोलह स्वप्न

कितने ही काल बीत जाने पर एक दिन सम्राट भरत ने अद्भुत फल दिखाने वाले कुछ स्वप्न देखे। वे अचानक जाग उठे और उनका फल पंचम काल में होगा तथा अशुभ होगा, ऐसा समझकर ही वे भगवान् के समवसरण में पहुँचे। प्रभु की वंदना के समय भरत को परिणामों की निर्मलता विशेष से अवधिज्ञान प्रकट हो गया। पुनः भरत ने भगवान् से निवेदन किया है कि हे भगवन् ! मैने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की है। समस्त धर्म सृष्टि को साक्षात् उत्पन्न करने वाले आपके रहते हुए मैंने यह महान मूर्खता की है। हे देव! इसमें क्या दोष है और क्या गुण है? सो कृपा कर कहिए तथा हे नाथ! आज मैने रात्रि में सोलह स्वप्न देखे हैं, उनके फल का भी निरुपण कीजिए। तब भगवान् की दिव्यध्वनि खिरी। हे भरत! यह ब्राह्मणों की रचना यद्यपि आज दोष उत्पन्न करने वाली नहीं है, फिर भी आगामी काल में खोटे मतों को उत्पन्न करेगी अतः दोष का बीज रूप है। तूने जो स्वप्न देखे हैं, खेद है कि वे पंचम काल में धर्म के ह्रास को सूचित करने वाले हैं। क्रमशः उनका फल सुनो।

1. तूने जो पृथ्वी पर अकेले विहार कर पर्वत पर चढ़े हुए तेईस सिंह देखे हैं, उसका फल यह है कि श्री महावीर स्वामी को छोड़ कर शेष तेईस तीर्थंकरों के समय दुष्टनयों की उत्पत्ति नहीं होगी।

2. अकेले सिंह के बच्चे के पीछे हरिणों का समूह देखने से श्री महावीर स्वामी के तीर्थ में परिग्रह सहित बहुत से कुलिंगी हो जावेंगे।

3. हाथी के उठाने योग्य बोझ से जिसकी पीठ झुक गई, ऐसे घोड़े के देखने से पंचम काल के साधु समस्त तपश्चरण के भार को उठाने में समर्थ नहीं होगे।

4. सूखे पत्ते खाने वाले बकरों को देखने से मालूम होता है कि आगामी काल में मनुष्य सदाचार को छोड़ कर दुराचारी हो जावेंगे।

5. गजेन्द्र के कंधे पर चढ़े हुए वानरों के देखने से आगे चल कर प्राचीन क्षत्रिय वंश नष्ट हो जावेंगे और नीच कुल वाले पृथ्वी का पालन करेंगे।

6. कौवों द्वारा उल्लू को त्रास दिया जाना देखने से, मनुष्य धर्म की इच्छा से जैन मुनियों को छोड़कर अन्य मत के साधुओं के समीप जायेंगे।

7. नाचते हुए बहुत से भूतों को देखने से, प्रजा के लोग व्यंतरों को देव समझकर उनकी उपासना करने लगेंगे।

8. जिसका मध्य भाग सूखा हुआ है, ऐसे तालाब के चारों ओर पानी देखने से धर्म आर्यखंड से हटकर म्लेच्छों में ही रह जायेगा।

9. धूल से मलिन रत्नों की राशि देखने से पञ्चम काल में ऋद्धिधारी मुनि उत्पन्न नहीं होंगे।

10. आदर से जिसकी पूजा की गई ऐसे कुत्ते को नैवेद्य खाते देखने से, व्रतरहित ब्राह्मणगुणी पात्रों के समान सत्कार पायेंगे।

11. ऊँचे स्वर से शब्द करते हुए तरुण बैल का विहार देखने से, लोग तरुण अवस्था में ही मुनिपद में ठहर सकेंगे अन्य अवस्था में नहीं।

12. परिमंडल से घिरे चन्द्रमा के देखने से पंचम काल के मुनियों में अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान नहीं होगा।

13. परस्पर मिलकर जाते हुए दो बैलों के देखने से यह सूचित होता है कि पंचम काल में मुनिजन साथ-साथ रहेंगे, अकेले विहार करने वाले नहीं होंगे।

14. मेघों से ढके हुए सूर्य के देखने से, पंचम काल में केवलज्ञान रूपी सूर्य का उदय नहीं होगा।

15. सूखा वृक्ष देखने से, स्त्री-पुरुषों का चरित्र भ्रष्ट हो जायेगा।

16. जीर्ण पत्तों के देखने से मालुम होता है कि महाऔषधियों का रस नष्ट हो जायेगा।

हे वत्स! ऐसे फल देने वाले इन स्वप्नों को तू पंचम काल में फल देने वाला समझ और समस्त विघ्नों की शांति के लिए धर्म में बुद्धि कर। इस प्रकार भगवान् के उपदेश से परम संतोष को प्राप्त भरत महाराज बार-बार जगद्गुरु को प्रणाम कर अयोध्या वापस आ गये और खोटे स्वप्नों से होने वाले अनिष्ट की शांति के लिए जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाओं का महाभिषेक किया, महर्षियों की पूजा की और बड़े-बड़े दान दिये। अनन्तर बहुमूल्य रत्नों से बने हुए जिनेन्द्र की प्रतिमाओं से सजे हुए बहुत से घण्टे बनवाये तथा ऐसे-ऐसे चौबीस घंटे बाहर के दरवाजे पर राजभवन के महाद्वार पर और गोपुर दरवाजे पर अनुक्रम से टंगवा दिये। जब वे चक्रवर्ती बाहर निकलते या प्रवेश करते, तब मुकुट के अग्रभाग पर लगे हुए घंटाओं से उन्हें चौबीस तीर्थंकर का स्मरण होता था।

उसी समय से नगरवासी लोगों ने भी दरवाजों पर तोरण-मालाओं में जिनप्रतिमा आदि से युक्त घण्टे बाँधे थे। चूँकि भरतेश्वर ने अर्हंतदेव की वंदना के लिए ये मालाएं

बाँधी थीं, अतएव आज भी प्रत्येक घर पर 'वन्दनमालाएँ' दिखाई देती हैं।

भगवान् ऋषभदेव के 84 गणधर थे। नानागुणों से युत मुनियों का सात प्रकार का संघ था। जिसमें पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवली, विक्रियाऋद्धिधारी, विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी और वादी ये होते हैं। ये सब 84000 थे, 50000 आर्यिकायें, 300000 श्रावक, 500000 श्राविकाएं, असंख्यात् देव-देवियाँ और संख्यात् मनुष्य-तिर्यंय थे।

भगवान् का मोक्ष गमन

इस प्रकार भगवान् ने भव्यों को मोक्षफल की प्राप्ति करने के लिए अपने गणधरों के साथ एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम, एक लाख वर्ष पूर्व तक विहार किया। आयु के चौदह दिन शेष रहने पर श्रीशिखर और सिद्धि शिखर के बीच कैलाशपर्वत पर योग निरोध कर विराजमान हो गये। वह दिन पौष सुदी पूर्णिमा का था। उसी दिन भरतेश्वर ने यह स्वप्न देखा कि महामेरु पर्वत अपनी लम्बाई से सिद्ध क्षेत्र तक पहुँच गया है। युवराज अर्ककीर्ति आदि सभी मुख्यजनों ने कुछ-कुछ स्वप्न देखे जिसके फलस्वरूप भगवान् का मोक्ष गमन निकट समझ भरतेश्वर कैलाश पर्वत पर पहुँच गये। भक्तिवंदना आदि करके चौदह दिन तक महामह पूजा करते रहे। माघ कृष्ण चतुर्दशी के दिन सूर्योदय के शुभ मुहूर्त में भगवान् ऋषभदेव पूर्व दिशा की ओर मुँह करके अनेक मुनियों के साथ पर्यंकासन से विराजे हुए अघातिया कर्मों का नाश कर एक समय में सम्यक्त्वादि गुणों से सहित लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हो गये, वहाँ नित्य निरंजन, शरीर से कुछ कम, अमूर्त, आत्मसुख में निमग्न हो गये।

उसी समय मोक्षकल्याणक की इच्छा से देवों ने आकर भगवान् के शरीर को अत्यन्त पवित्र जानकर 'अग्निकुमार देव' के मुकुट से उत्पन्न अग्नि से संस्कार किया, महान पूजा की, अनंतर भस्म को अपने मस्तक आदि में लगाकर अपने को कृतार्थ माना। इधर भरत को शोक से व्याकुल देख कर श्री वृषभसेन गणधर ने उन्हें खूब समझाकर इष्टवियोग के दुःख को दूर किया था।

जो ऋषभदेव का जीव पहले भव में जयवर्मा, दूसरे भव में महाबल, तीसरे भव में ललितांग देव, चौथे भव में राजा वज्रजंघ, पाँचवे भव में भोगभूमिज आर्य, छठे भव में श्रीधरदेव, सातवें भव में राजा सुविधि, आठवें भव में अच्युतेन्द्र,

नवमें भव में चक्रवर्ती वज्रनाभि, दशवें भव में सवार्थसिद्धि के अहमिंद्र हुए थे- अनन्तर पञ्चकल्याणकों के वैभव से युक्त समस्त इंद्र द्वारा वंद्य तीन लोक के गुरु ऋषभदेव नाम के प्रथम तीर्थंकर हुए हैं, वे हमारी सदैव रक्षा करें।

1. कहाँ से गर्भ में आये	सर्वार्थसिद्धि
2. जन्म नगरी	अयोध्या
3. पिता	नाभिराज
4. माता	मरुदेवी
5. गर्भतिथि	आषाढ़ कृष्ण 2
6. जन्म तिथि	चैत्र कृष्ण नवमी
7. जन्म नक्षत्र	उत्तराषाढ़ा
8. वंश	इक्ष्वाकु
9. आयु	84 लाख पूर्व
10. कुमार काल	20 लाख पूर्व
11. उत्सेध	500 धनुष
12. शरीर वर्ण	सुवर्ण वर्ण
13. राज्यकाल	त्रेसठ लाख पूर्व
14. चिन्ह	वृषभ
15. वैराग्य कारण	नीलांजना मरण
16. दीक्षा तिथि	चैत्र कृष्णा नवमी
17. दीक्षा नक्षत्र	उत्तराषाढ़ा
18. दीक्षावन	सिद्धार्थ
19. दीक्षोपवास	षष्ठोपवास (छह मास)
20. दीक्षा काल	अपराह्न
21. सहदीक्षित	4000 राजा
22. छद्मस्थ काल	1000 वर्ष
23. केवल तिथि	फाल्गुन कृष्ण 11
24. केवलोत्पत्ति काल	पूर्वाह्न
25. केवल स्थान	पुरिमताल नगर
26. केवल नक्षत्र	उत्तराषाढ़ा

27. समवसरण भूमि	12 योजन
28. अशोक वृक्ष (केवल वृक्ष)	न्यग्रोध (वटवृक्ष)
29. यक्ष	गोमुख
30. यक्षिणी	चक्रेश्वरी
31. केवली काल	1000 वर्ष कम, एक लाख वर्ष पूर्व
32. गणधर संख्या	84
33. मुख्य गणधर	वृषभसेन
34. ऋषि संख्या	84000
35. पूर्वधर	4750
36. शिक्षक	4150
37. अवधिज्ञानी	9000
38. केवली	20000
39. विक्रियाधारी	20600
40. विपुलमती मुनि	12750
41. वादीमुनि	12750
42. आर्यिका संख्या	50000
43. मुख्य आर्यिका	ब्राह्मी
44. श्रावक	300000
45. श्राविका	500000
46. मोक्ष तिथि	माघ कृष्ण 14
47. मोक्षकाल	पूर्वाह्न
48. मोक्ष नक्षत्र	उत्तराषाढ़ा
49. मोक्ष स्थान	कैलाश पर्वत
50. सहमुक्त	10000
51. योगनिवृति	14 दिन पूर्व

मंत्र-ॐ ह्रीं श्री ऋषभदेवाय सर्वसिद्धिकराय सर्वसौख्यं कुरु कुरु ह्रीं नमः।

इस मंत्र को आप सभी भव्यजन प्रतिदिन जपते रहें सम्पूर्ण मनोकामनाएं सफल होंगी।